G8558

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में जनवादी चेतना

SWATHANTHRYOTHAR HINDI NATAKOM MEIN JANAVADI CHETHANA

THESIS SUBMITTED TO
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
FOR THE AWARD OF THE DEGREE OF

DOCTOR OF PHILOSOPHY

ANISH KUMAR T.K.

PROF. (Dr) A. ARAVINDAKSHAN
HEAD OF THE DEPARTMENT

PROF. (Dr) P.A. SHEMIM ALIYAR
SUPERVISING TEACHER

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI - 682 022

2003

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled as **"SWATHANTHRYOTHAR HINDI NATAKOM MEIN JANAVADI CHETHANA"** is a bonafide record of work carried out by **ANISH KUMAR. T.K.** under my supervision for the award of the Degree of Doctor of Philosophy and that no part of this thesis hitherto has been submitted for a Degree in any other University.

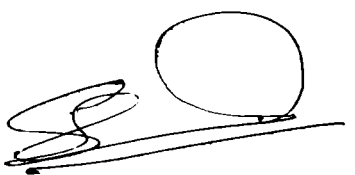

Department of Hindi

Cochin University of Science and Technology

Date:

Prof. Dr. P.A. SHEMIM ALIYAR

Supervising Teacher

DECLARATION

I hereby declare that the thesis entitled **"SWATHANTHRYOTHAR HINDI NATAKOM MEIN JANAVADI CHETHANA"** has not previously formed the basis of the award of any Degree, Diploma, Associate ship, Fellowship or other similar title or recognition.

ANISH KUMAR. T.K.

Research Scholar

Department of Hindi

School of Language

Cochin University of Science and Technology

Cochin-22

Date:

भूमिका

जनवादी चेतना एक समष्टि मूलक चेतना है जो समाज के शोषित पीड़ित एवं अधिकार से वंचित आम आदमी की आज़ादी की दिशा में प्रयत्नरत रहने में मनुष्य मन को प्रेरित करती है जिस के मूल में एक संशुद्ध जनतंत्रात्मक समाज की कामना भी मौजूद है । साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक एक सशक्त जनवादी कला माध्यम है । आज़ादी के बाद का समय भारत में समाज, राजनीति, साहित्य आदि के पुनर्मूल्यांकन का समय था । इस अवधि में कतिपय राजनीतिज्ञों तथा साहित्यकारों का ध्यान समाज के हाशिए में पड़े हुए लोगों की ज़िन्दगी की ओर बढ़ा । और आम आदमी के मन में अपने अधिकारों के प्रति सही पहचान प्रदान की और जनवादी आन्दोलनों को सही निदेश दे दिया । यह शोध-प्रबन्ध जनवादी चेतना से ओत-प्रोत, स्वातंत्र्योत्तर कालीन हिन्दी नाटकों पर रोशनी डालने का एक छोटा-सा प्रयास है । स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण करते हुए, केरल के विभिन्न विश्वविद्यालयों में शोधकार्य संपन्न हुआ है । लेकिन जनवादी चेतना पर शोधकार्य अभी तक नहीं हुआ है । इसलिए उस अनछुए विषय का चयन मैं ने किया । इस शोध कार्य को निम्नलिखित पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है :

पहला अध्याय : साहित्य और जनवादी चेतना का अंत:संबंध ।

दूसरा अध्याय : हिन्दी नाटकों में जनवादी चेतना का विकासक्रम : एक ऐतिहासिक अध्ययन ।

तीसरा अध्याय : आपात्कालीन परिवेश में नाटकों में अभिव्यक्त जनवादी चेतना ।

चौथा अध्याय : मौजूदा व्यवस्था में आम आदमी का शोषण और उन के जुझारू तेवर ।

पाँचवाँ अध्याय : जनवादी चेतना और रंगकर्म ।

उपसंहार ।

पहले अध्याय "साहित्य और जनवादी चेतना का अंतःसंबंध" में जनवादी चेतना की परिभाषा, भिन्न अवधारणाएँ, विभिन्न व्यवस्थाओं में जनाधिकारों का हनन, शक्तिशाली सत्ता और जनसाधारण में टकराहट, ज़िन्दगी के संघर्षों से साहित्यकार का सरोकार, जनजागरण के जीवंत माध्यम के रूप में नाटक की भूमिका आदि पर ज़ोर दिया गया है ।

दूसरे अध्याय "हिन्दी नाटकों में जनवादी चेतना का विकासक्रम: एक ऐतिहासिक अध्ययन" में पूर्व भारतेन्दु युग से लेकर साठोत्तरी युग तक के हिन्दी नाटकों में पाई जानेवाली जनवादी चेतना के विकासक्रम पर नज़र डाली गई है ।

तीसरे अध्याय "आपात्कालीन परिवेश में नाटकों में अभिव्यक्त जनवादी चेतना" में इंदिरा सरकार के शासनकाल में घोषित किए गए आपातकाल पर नज़र दौडाते हुए आपातकालीन परिवेश में रचित नाटकों का अध्ययन किया गया है ।

चौथे अध्याय "मौजूदा व्यवस्था में आम आदमी का शोषण और उनके जुझारू तेवर" में बुनियादी ज़रूरतों से वंचित आम आदमी, निरक्षरता और अज्ञता, अनपढ ग्रामीणों की अंधश्रद्धा, भाग्यवाद पर विश्वास, बेरोज़गारी आदि समस्या पक्ष तथा प्रश्नहीन एवं प्रतिक्रियाहीन जनता में अपने जीवन को पहचान लगना, जनता की सुप्त चेतना को जगाने में कुछ निर्भीक व्यक्तियों का प्रयास, जड संस्कारों को तोडने की कोशिश, शोषणकारी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा आदि उपचारी या प्रतिक्रिया-पक्ष पर भी ज़ोर दिया गया है ।

पाँचवें अध्याय "जनवादी नाटक और रंगकर्म" में एक जनवादी नाट्यान्दोलन के रूप में भारती जन नाट्य संघ (IPTA) की देन, इप्टा का सांगठनिक बिखराव, इप्टा की क्रियात्मक शिथिलता, रंगशालाओं की चहारदीवारियों से नाटक को मुक्ति आदि बातों पर ज़ोर देते हुए जनवादी नाटकों की शिल्पपरक तथा भाषापरक विशेषताओं पर प्रकाश डालने का प्रयास हुआ है ।

उपसंहार में जनवादी चेतना से युक्त स्वातंत्र्योत्तर कालीन हिन्दी नाटकों के अध्ययन के उपरांत निकले निष्कर्ष को समाकलित किया गया है । इस अध्ययन के अंतर्गत आए हुए पूरे नाटक जनवादी नाटक नहीं हैं । क्योंकि नुक्कड नाटक ही दरअसल जनवादी नाटक की कोटि में आता है । ऐसे नाटकों को हमेशा एक आन्दोलन का स्वभाव है । ये नाटककार, नाटक करना अपना सामाजिक दायित्व समझते हुए नाटक को आम जनता के बीच ले आते हैं और उन का एकमात्र मकसद भी आम लोगों में जागरण पैदा करना है । लेकिन स्वातंत्र्योत्तर काल में रचित कई नाटकों में जन जागरण की प्रबल इच्छा प्रकट होती है या जनवादी चेतना अवश्य मौजूद होती है । ऐसे नाटकों को हम जनवादी नाटक नहीं कह सकते हैं, फिर भी जनवादी चेतना को प्रोत्साहित करने तथा जनवादी आन्दोलनों को ऊर्जा प्रदान करने में इन नाटकों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हैं । इसलिए इस अध्ययन में स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी में रचित जनवादी चेतना-युक्त नाटकों तथा नुक्कड नाटकों पर प्रकाश डालने का प्रयास हुआ है ।

कृतज्ञता - ज्ञापन

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध "स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में जनवादी चेतना" आपके सम्मुख है । यह शोध छात्र उन सभी व्यक्तियों का आभारी है, जिन्होंने अपना किंचित स्नेहदान और पक्का विचार देकर मेरा उत्साह बढ़ाने और शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने की प्रेरणा देने का कार्य किया है । रूपरेखा के अनुसार यथासाध्य उपलब्ध सामग्रियों का संकलन कर यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया है ।

मैं सर्वप्रथम आभारी हूँ अपने शोध निदेशिका परम आदरणीय डॉ. पी. ए. शमीम अलियारजी (प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कोचिन विश्वविद्यालय) के प्रति, जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने के लिए यथासमय आवश्यक निर्देशन और सुझाव दिया है । उनका परम स्नेह, सतत प्रेरणा और सहायता से ही यह कार्य पूरा हुआ है । इसलिए मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

मैं बहुत आभारी हूँ मेरे "विषय विशेषज्ञ" प्रो. डॉ. एन. मोहननजी (हिन्दी विभाग, कोचिन विश्वविद्यालय) के प्रति, जिन्होंने कार्यव्यस्तता के बीच भी शोध प्रबन्ध को आद्यन्त पढ़ने, आवश्यक संशोधन एवं सुझाव देने के लिए समय निकाला है । इसलिए मैं उनके प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उनके आशीष हेतु विनम्र निवेदन प्रस्तुत करता हूँ ।

हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ. ए. अरविन्दाक्षनजी, अन्य सभी गुरुजनों, सहयोगियों एवं मित्रों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस शोध कार्य को पूर्ण करने में जाने-अनजाने मेरी मदद की है ।

कोचिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के दफ्तर एवं पुस्तकालय के सभी अधिकारियों एवं कर्मचारियों ने अध्ययन के दौरान जो सुविधाएँ एवं सहयोग मुझे प्रदान किया है उनके लिए मैं आभारी हूँ ।

उन ज्ञात-अज्ञात लेखकों के प्रति भी मैं आभारी हूँ, जिनकी रचनाओं से शोध की नई दिशाओं का संकेत मिला है ।

मेरी प्रिय पत्नी "बोबा" ने निरंतर कार्य करते रहने के लिए मुझे प्रोत्साहन न किया होता तो शायद यह कार्य पूर्ण न हो पाता । उन्हें मैं क्या धन्यवाद दूँ, यह तो उन्हीं के त्याग का फल है ।

टी. के. अनोश कुमार

हिन्दी विभाग
कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय
कोच्ची - 682022.

तारीख : .07.2003

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

पहला अध्याय — 1 - 42

साहित्य और जनवादी चेतना का अंत:संबंध

जनवादी चेतना - परिभाषा - जनता और जनवादी चेतना - भिन्न व्यवस्थाएँ : सामंती, तानाशाही एवं पूँजीवादी व्यवस्था में जनता के अधिकारों का हनन - सामंती, तानाशाही एवं पूँजीवादी व्यवस्थाओं में जनता का विराट शोषण - विभिन्न वैचारिक आन्दोलन और जनवादी चेतना - मार्क्सवादी विचारधारा - गांधीवाद का प्रभाव - राम मनोहर लोहिया - डॉ. बी. आर. अम्बेडकर- विनोबा भावे - जयप्रकाश नारायण - प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना और जनवादी चेतना - जनवादी चेतना और जनविरोधी शक्तियों का विरोध - नाटक : जन-जागरण का जीवंत माध्यम - समष्टि चेतना में पनपती जनवादी चेतना - प्रमुख भारतीय भाषाओं के नुक्कड नाटकों में जनवादी चेतना ।

दूसरा अध्याय — 43 - 118

हिन्दी नाटकों में जनवादी चेतना का विकासक्रम : एक ऐतिहासिक अध्ययन

पूर्व भारतेन्दु युग - लोकधर्मी नाट्य परंपरा - स्वांग - नौटंकी - भगत - भांड - भारतेन्दु और प्रसाद युग : भारतीय स्वाधीनता संग्राम के परिदृश्य में नाटकों में अभिव्यक्त जनवादी चेतना - राजनीतिक परिवेश -

पृष्ठ संख्या

आर्थिक परिवेश - सामाजिक-धार्मिक परिवेश - भारतेन्दु युगीन नाटक और जनवादी चेतना - साम्राज्यवाद विरोधी चेतना - व्यवस्था और आम आदमी - सामाजिक धार्मिक कुरीतियों पर प्रहार - निम्न वर्ग - अंधेर नगरी - प्रसाद युग - शोषण के विरुद्ध चेतना - निम्नवर्ग में शोषण के विरुद्ध चेतना - जाति प्रथा- नारी में जागरण - प्रसादोत्तर युग - स्वातंत्र्योत्तर भारत की बदलती सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियाँ, सामाजिक परिवेश - स्वातंत्र्योत्तर भारत की आर्थिक परिस्थितियाँ - राजनीतिक परिस्थितियाँ - बदलते परिवेश और नाटककार की प्रतिक्रिया - साठोत्तरी युग - जनवादी तेवर के प्रमुख नाटक - नुक्कड नाटक : सशक्त जनवादी कला माध्यम - नुक्कड नाटक का विकास - हाश्मी के नाटक ।

तीसरा अध्याय 119 - 166

आपातकालीन परिवेश में नाटकों में अभिव्यक्त जनवादी चेतना

बर्बर और अमानवीय शासन-नीतियों का पर्दाफाश - अवसरवादी राजनीति का घृणित खेल - स्वार्थी एवं सत्ताभोही राजनीतिज्ञों के छल-कपट - प्रजातंत्र का खोखलापन - कलाकार और साहित्यकार पर व्यवस्था का दमन - मजहबी मतवालापन - राजनीति और धर्म का गलबाही संबंध ।

पृष्ठ संख्या

चौथा अध्याय 167 - 199

मौजूदा व्यवस्था में आम आदमी का शोषण और उनके जुझारू तेवर

बुनियादी ज़रूरतों से वंचित आम आदमी - निरक्षरता और अज्ञता - अनपढ़ ग्रामीणों की अंधश्रद्धा - भाग्यवाद पर अडिग विश्वास - बेरोज़गारी - प्रश्नहीन एवं प्रतिक्रिया विहीन जनता में अपने जीवन की पहचान जगाना - जनता की सुप्त चेतना को जगाने में कुछ निर्भीक व्यक्तियों का प्रयास - जड संस्कारों को तोडने की कोशिश - शोषणकारी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा ।

पाँचवाँ अध्याय 200 - 217

जनवादी चेतना और रंगकर्म

भारतीय जननाट्य संघ और जनवादी चेतना - नाटक को जनसाधारण के बीच लाने में इप्टा और उसके रंगकर्मियों की देन - इप्टा एक देशव्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में - इप्टा का सांगठनिक बिखराव - इप्टा की क्रियात्मक शिथिलता - पुनःसक्रियता - जननाट्य मंच और सफदर हाशमी - रंगशालाओं की चहार दीवारियों से नाटक की मुक्ति - दर्शक एवं अभिनेता की दूरी का मिटना - नाट्य रूप और एपिक रूप में अन्तर - लोकजीवन से संपृक्त जनवादी चेतना ।

उपसंहार 218 - 223

सहायक ग्रन्थ सूची 224 - 235

अध्याय : एक

साहित्य और जनवादी चेतना का अंत:संबंध

संसार की हर एक चीज़ निरंतर परिवर्तित या विकसित होती रहती है । मानव समाज के भौतिक एवं मानसिक धरातल पर भी इस विकास परिणाम के तत्व विद्यमान हैं । साहित्य का मूल्यांकन ज़िन्दगी की - मानव मन की गतिशीलता से सम्बद्ध है । साहित्य, सामाजिक परिस्थितियों से हमेशा प्रभावित है और साथ ही वह समाज पर अपना प्रभाव भी डालता है । हर एक ह्रासशील समाज व्यवस्था के अंतिम चरण, सामाजिक धरातल पर उभर आनेवाले व्यापक परिवर्तनों के गवाही बनते हैं और उस समाज के साहित्य एवं कला में उन परिवर्तनों की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है ।

मनुष्य के विचार जगत का निर्माण उनके आर्थिक धरातल पर आधारित है साथ ही साथ अपनी आर्थिक एवं भौतिक परिस्थितियों को बदलने की ताकत भी मनुष्य के विचार जगत में मौजूद है । एक प्रतिबद्ध साहित्यकार समाज में ऐसी ताकत पैदा सकता है । साहित्य का इतिहास इस बात का गवाही है कि युगों की परिस्थितियों के अनुरूप कलाकार अपनी सूक्ष्म ग्राहिका शक्ति से अपने युग की हकीकत को ग्रहण कर लेता है और कल्पना तथा अनुभूति के ज़रिए उसे साहित्य में तब्दील कर देता है । उस रचना के ज़रिए अनगिनत पाठकों की भावनाओं तथा जीवनानुभवों को वाणी मिल जाती है । श्रीराम प्रसाद त्रिवेदी के अनुसार, "किसी भी कलाकार या साहित्यकार की कला या साहित्य तभी संवेदनशील होगी, जब वह समाज के ज्वलंत प्रश्नों पर अपनी दृष्टि फेंकेगा, जीवन की यथार्थता को अपने साहित्य के अंतर्गत निरूपित करेगा । यदि कलाकार इन प्रश्नों से तटस्थ है अथवा उन का मूल्यांकन करने में असमर्थ है तो उस की, कृति समाज के मर्मस्थल को स्पर्श नहीं कर सकती ।"[1]

---

1. प्रगतिवादी समीक्षा - श्रीराम प्रसाद त्रिवेदी - पृ. 203

पूँजीवाद, ज्ञान-विज्ञान के समस्त साधनों को अपने लाभ तथा राजनीतिक स्वार्थ की दिशा में परिचालित करता है । परन्तु प्रगतिशील साहित्य या प्रगतिवादी साहित्य में इन साधनों का उपयोग, पूँजीवादी नज़रिए के विरोध में तथा एक सामाजिक समतुल्यता पर आधारित सामूहिक संस्कृति के निर्माण के लिए किया जाता है । जनवादी साहित्य इस कोटि में आता है, जो समाज कल्याणोन्मुख मानवीय चेतना की उपज है । जनवादी साहित्य, भारत में तथा विश्व के विभिन्न देशों में हुए प्रगतिशील विचारधाराओं तथा प्रगतिशील राजनैतिक एवं साहित्यिक आन्दोलनों की सहज परिणति है ।

जनवादी चेतना - परिभाषा

जनवाद के पीछे हम लोकतंत्र की विचारधारा देख सकते हैं । "जनवाद" अंग्रेज़ी के "Democracy" शब्द का हिन्दी रूप है । Democracy शब्द ग्रीक भाषा के Demos और Kratein नामक दो शब्दों के मेल से बना है । Demos का अर्थ है जनता और Kratein का अर्थ है शासन करना । अत: Democracy का अर्थ हुआ - जनता का शासन ।

लोकतंत्र केवल शासन के रूप तक सीमित नहीं है, उसका एक सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक स्वरूप भी है । सामाजिक आदर्श के रूप में, लोकतंत्र वह समाज है जिस में कोई विशेष अधिकार युक्त वर्ग नहीं होता और न जाति, वर्ण, धर्म, वंश, धन, लिंग आदि के आधार पर व्यक्ति के बीच भेद-भाव किया जाता है । यह इनसानियत पर आधारित एक व्यवस्था है जिस में सब के लिए समान अधिकार उपलब्ध है । लेकिन सत्ता, शोषक वर्ग, धर्म, तानाशाही, नौकरशाही आदि जनविरोधी ताकतें समाज के इस लोकतंत्रात्मक स्वरूप पर खतरा डालती हैं । ये जनविरोधी ताकतें दरअसल आम जनता को

---

1. साठोत्तरी हिन्दी कविता में जनवादी चेतना - नरेन्द्र सिंह - पृ. 17

अज्ञता और कमज़ोरियों के ऊपर ही अपनी बादशाहत की नींव डालती हैं । इसलिए जनवादी साहित्य, आम जनता को अपनी कमज़ोरियों से मुक्ति पाने और जनविरोधी ताकतों के खिलाफ संगठित होकर अपने अधिकारों की रक्षा करने का आह्वान करता है ।

जनवादी काव्य के बारे में मुक्तिबोध ने यों कहा, "जनता के मानसिक परिष्कार, उस के आदर्श और मनोरंजन से लेकर क्रांतिपथ की तरफ मोडनेवाला, प्राकृतिक शोभा और प्रेम, शोषण और सत्ता के घमंड को चूर करनेवाला स्वतंत्रता और मुक्ति-गीतों को अभिव्यक्ति देनेवाला, ये सभी कोटियाँ जनवादी काव्य हो सकते हैं, बशर्ते वह मन को मानवीय, जन को "व्यापक जन" बना सके और जनता को मुक्ति-पथ पर अग्रसर कर सके ।"[1] उन के उक्त शब्दों पर नज़र दौड़ाते वक्त, मालूम हो जाएगा कि उन्होंने तीन मुद्दों पर ज़्यादा ज़ोर दिया है । एक है "शोषण और सत्ता के घमंड को चूर करनेवाला", दूसरा है, "जन को "व्यापक जन" बना सके" और तीसरा है, "मुक्ति पथ पर अग्रसर कर सके" । इसलिए हम कह सकते हैं कि जनवादी साहित्य शोषित एवं पीडित जनता के पक्षधर होता है, वह जनता को "व्यापक जनता" में तब्दील करनेवाला हो और क्रांति का आह्वान करनेवाला भी हो । इन मुद्दों को आधार बनाकर हम जनवादी चेतना को यों परिभाषाबद्ध कर सकते हैं :

"जनवादी चेतना एक समष्टि-मूलक चेतना है जो समाज की शोषित, उत्पीडित एवं अधिकार से वंचित आम आदमी की आज़ादी की दिशा में प्रयत्नरत रहने में मनुष्य मन को प्रेरित करती है और जिस के मूल में एक संशुद्ध जनतांत्रिक समाज की कामना भी मौजूद है ।"

---

1. मुक्तिबोध - मुक्तिबोध रचनावली खंड-5 - नए साहित्य का सौंदर्य शास्त्र - पृ. 76

मतलब यह है कि जनवादी साहित्य, समाज के उत्पीडित आम आदमी की बदहाली पर नज़र डालता है और इस बदहाली को रचनेवाली ताकतों के खिलाफ जन-शक्ति को निदेशित करने का प्रयास भी करता है । मनुष्य के इतिहास के आरंभिक काल में ज़मीन पर सब के लिए समान अधिकार था । समय बीत जाने पर ताकतवर वर्ग अपने बाहुबल से ज़मीन पर कब्जा करने लगा । कमज़ोर वर्ग को अपनी संपत्ति छोड़ देनी पडी । धीरे-धीरे ताकतवर वर्ग कई प्रकार के कानून, व्यवस्था वगैरह बनाकर ज़मीन पर अपने अधिकार को और अधिक सुरक्षित रखने लगा । इस प्रकार समाज में शासक-शासित, शोषक-शोषित, पीडक-पीडित आदि वर्ग और वर्ग भेद उत्पन्न होने लगा । समाज के इन दोनों वर्गों के बीच हमेशा संघर्ष चल रहा था, अब भी चलता ही रहता है । इस संघर्ष में ताकतवर वर्ग अपनी सारी धन-दौलत और ताकत का इस्तेमाल करता है । लेकिन आम वर्ग के लिए अपना संघ-बोध ही एकमात्र हथियार है । वर्ग-भेद को खत्म करने के लिए जो सामाजिक इच्छा प्रयत्नरत है, वही जनवादी चेतना का मूल है । उस मकसद को हासिल करने के लिए समाज के उपेक्षित वर्ग में जागरण होना ज़रूरी है । इस दृष्टि से जनवादी चेतना, जन-जागरण और जन-संघर्ष की मांग करती है ।

"जनता" और जनवादी चेतना

जनवादी चेतना के बारे में विचार करते समय उस का आरंभ जनतंत्रात्मक समाज से करना पडता है । याने एक आदर्श जनतांत्रिक समाज से । ऐसा एक आदर्श जनतांत्रिक समाज के रूपायन के लिए, सबसे पहले "जनता" का होना ज़रूरी है । यह "जनता" मनुष्य का केवल एक समूह या भीड नहीं । जैसा कि हम ने मुक्तिबोध के "व्यापक जनता" के बारे में सूचित किया, जनवादी चेतना के संदर्भ में, "जनता" शब्द का एक अर्थ है, लोग । "लोग" का अर्थ होता है, इनसान का एक बडा-सा समूह । तब उस शब्द के

अंतर्गत राजा-रंक, अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष सब आते हैं । जनवादी चेतना के परिप्रेक्ष्य में, जनता के अंतर्गत लोग के उस सामान्य स्वरूप को ही स्वीकार किया जाना चाहिए । अथवा जनता में जो तबके सुखसुविधाओं एवं विशेष अधिकार प्राप्त करके शेष जनता से अलग होकर प्रतिक्षण सुविधाभोगी बन जाते हैं और स्वभावत: एक बहु संख्यकों के खिलाफ खड़े होते हैं, वे "जनता" से बाहर होते हैं, उन्हें जन-विरोधी कहना चाहिए । अथवा उस विशेष वर्ग के लोग शाब्दिक अर्थ में जनता के अंतर्गत आने पर भी, भले ही जन-हितों के विरोधी बन जाते हैं । जनवाद, उन जनविरोधी वर्गों को जनता में शामिल कराने को तैयार नहीं है । दूसरे शब्दों में, जनवाद के अनुसार समाज के सामान्य वर्ग "जनता" के अंतर्गत आते हैं और उस सामान्य वर्ग के विरोध में आनेवाले वर्ग "जनता" के बाहर भी होते हैं ।

"जनता" शब्द पर विचार करने पर एक और अर्थ भी विद्यमान होता है : लोगों का जो समूह स्वयं अपने को तथा दूसरों को इनसानियत के स्तर पर समझ लेता है, और जिन में व्यवस्था के अंतर्गत अपने अधिकारों, कर्तव्यों तथा शासक-शासितों के बीच अपेक्षित न्यायपूर्ण रिश्तों की अच्छी जानकारी होती है, उस जन समूह को हम "जनता" कह सकते हैं ।

जनता के बिना जनतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना मुश्किल-सी लगती है । इसलिए सबसे पहले "भीड़" को "जनता" में तब्दील करना ज़रूरी है । लेकिन यह परिवर्तन आसान नहीं । क्योंकि हमारे देश की आम जनता सदियों से शोषित है, शासन यंत्रों से पीड़ित है और अपने अधिकारों तथा असीम ताकतों के प्रति अनजान भी है । इस के अतिरिक्त, भीड़ में होनेवाला किसी भी तरह का परिवर्तन, समाज के विशेष वर्ग को बरदाश्त नहीं । सदियों से ये लोग अपनी पूरी ताकत लगाकर ऐसे परिवर्तनों तथा

परिवर्तनवादियों को तबाहने का कार्य करके आए हैं । सफ़दर हाश्मी इसका एक शिकार बने । सफ़दर हिन्दी के महान नुक्कड नाटककार थे । उन्होंने अपनी नाट्यमंडली "जन नाट्य मंच" द्वारा समाज में व्याप्त शोषण के विरुद्ध जन-चेतना को जगाने का सफल प्रयास किया है । सरकार की शोषण पूर्ण नीतियों का उन्होंने अपने नाटकों द्वारा खुलकर विरोध किया है और जिस की वजह से सफ़दर और अपने सहकर्मियों को सरकार एवं समाज विरोधी ताकतों की तरफ से कई प्रकार के उत्पीडन भोगना पडा है । और 01 जनवरी 1989 को साहिदाबाद में अपने साथियों के ऊपर कातिलाना हमला हुआ और उस के दूसरे दिन सफ़दर का देहांत हो गया । हमारे देश में इस तरह और भी ज़्यादा गवाह मिल सकते हैं - बिहार में आम लोगों को अपने शोषण के खिलाफ जगाने के हर प्रयास को रणवीर सेना जैसी ज़मीन्दारी गुण्डों द्वारा कुचल दिया जाता है । ये सेनाएँ समाज के पिछडे हुए वर्गों के बीच आतंक फैलाती हैं और क्रांति की चिंगारियों तक को बुझाने की कोशिश करती है । इस तरह जन-विरोधी ताकत हमेशा अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए, देश विशेष के मुताबिक, समाज विशेष के मुताबिक, काल-विशेष के मुताबिक नए-नए षड्यंत्र रचते ही रहती हैं । उधर सरकार और पुलिस बिलकुल खामोश हैं । इसलिए ही पहले सूचित किया गया है कि भीड को जनता बनाना आसान बात नहीं है । और जनवादी साहित्य का परम दायित्व भी यही है ।

एक संशुद्ध जनतांत्रिक देश का तात्पर्य है कि शासन तंत्र पर उस देश की संपूर्ण जनता की सचेतन भागीदारी । मतलब, एक जायज शासन तंत्र का निर्णय करने में जनता की उच्चतम क्षमता का प्रस्फुटन । केवल मतदान से बात नहीं चलेगी । मतदाताओं को अपने कर्तव्य की अच्छी जानकारी भी ज़रूरी है । नहीं तो जनतंत्र के नाम पर उस देश में तानाशाही के

सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता । शासन व्यवस्था में जनता की भागीदारी, पोलिंग बूतों में पहुँचते-पहुँचते खत्म हो जाएगी । इसलिए एक संशुद्ध जनतांत्रिक देश की स्थापना के लिए सबसे पहले जनता में जनता का बोध या जनवादी चेतना जगाना ज़रूरी है ।

हर देश में व्यवस्था का दण्ड भोगनेवाला वर्ग आम जनता है । वे समाज के सिंह भाग में आते हैं । सत्ता तो उन विशेष वर्गों के हाथों सुरक्षित है जो समाज के छोटे -से हिस्से में आते हैं । इसलिए जन-सत्ता को अपनी गरिमा प्राप्त करने के लिए अवाम में जागरण होना चाहिए और देश से सामाजिक एवं राजनीतिक विसंगतियों को हटाना भी चाहिए । जनवादी साहित्य या सर्वहारा साहित्य, जनता को असली "जनता" में परिवर्तित करने और उन में सही राजनीतिक समझदारी {पोलिटिकल एवेरनेस} पैदा करने के लिए कोशिश कर रहा है ।

भिन्न व्यवस्थाएँ : सामन्ती, तानाशाही एवं पूँजीवादी व्यवस्थाओं में जनता के अधिकारों का हनन

इतिहास में अभी तक चार प्रकार के राज हुए हैं - दास, सामन्ती, पूँजीवादी और समाजवादी । पहली तीनों व्यवस्थाएँ शोषक ताकतों के हितों की हिफाज़त करती हैं । समाजवादी राज एक नई प्रकार की व्यवस्था है, जो सही अर्थ में जनता की अपनी है और जिस में साम्यवादी व्यवस्था को अपनाया गया है ।

सबसे प्रथम राज्य दास राज्य था जिस में राजतंत्र, कुलीन तंत्र जैसी कई प्रकार की सरकारें थीं । इन विभेदों के बावजूद दास-युग का राज्य दास-स्वामियों का राज्य था । इस ने स्वामियों के विरुद्ध आवाज़

उठानेवाले दासों को हथियार के बल पर कुचल डाला था । दास-युग में दासों की ज़िन्दगी, जानवरों से बदतर थी ।

दास-युग के बाद सामन्ती राज्य का आगमन हुआ जिस में सरकार का सबसे ज़्यादा प्रचलित स्वरूप राजतंत्र का था । सामंती राज्य में भी अवाम सब कहीं दमन के पात्र थे । उधर कृषकों, निम्न वर्गों को कोई भी अधिकार नहीं दिया जाता था । किसानों को ज़बरदस्ती से बन्धुआ बनाकर काम करवाते थे । ज़मीन्दार के लिए काम न करनेवालों को निर्दय रूप से दण्डित किया था । इच्छा न होने पर भी सामन्त के आदेशानुसार लोगों को सेना में भर्ती होना पडा । उस समय किसानों तथा मज़दूरों के लिए वैयक्तिक स्वतंत्रता भी नहीं थी । वे लोग ज़मीन्दारों की सुविधापूर्ण ज़िन्दगी का सिर्फ एक उपकरण के रूप में रह गए थे । उन की अपनी आशा-आकांक्षाओं को देखने के लिए वहाँ कोई भी इनसान नहीं था । वास्तव में सामन्ती व्यवस्था, मनुष्य समाज से इनसानियत की आखिरी बूँदों तक को भाप बना डालती है ।

सामन्ती सभ्यता जनता को बांधने के लिए मजहब का भी एक सशक्त बेडी के रूप में इस्तेमाल करती है । भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था इस प्रकार का एक सशक्त हथियार है । वर्णाश्रम व्यवस्था ने धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा मानसिक धरातल पर जनता के अधिकारों का हनन करके , जनता की चिन्तन शक्ति की तबाह करते हुए उन्हें विशेष वर्ग के गुलाम बनाया है ।

तानाशाही में भी जनता की हालत अलग नहीं थी । शासक अपनी सत्ता-लिप्सा को निर्बाध गति से फलता-फूलता और फैलाता देखना चाहता है । इस भावना का तनिक-सा विरोध उसे बरदाश्त नहीं है ।

सत्ता-लिप्सा और सत्ता-विरोध के हालात शासक को क्रूर बनाता है । वह निर्मम तानाशाह में तब्दील हो जाता है । विरोध की फुसफुसाहट तक उसे बरदाश्त नहीं - किसी को अपना मुँह खोलने तथा कुछ बोलने का कोई अधिकार दिया नहीं जाता है । बोलना किसी शासक को बरदाश्त नहीं होता ।

अपनी इसी तानाशाही के फलस्वरूप शासक अपनी जनता की तरफ अच्छा-बुरा कुछ भी करवा सकता है । इतिहास में, ब्लडी मेरी, हिट्लर, ईदी अमीन जैसे कई उदाहरण मिल सकते हैं । अलबेर कम्यू ने अपना नाटक "गोयस सीसर जर्मानिकस कलिगुला" द्वारा तानाशाही को पराकाष्ठा का असली प्रस्तुतीकरण किया है जिस में ए डी 39 से 41 तक रोम बादशाहत में शासन किए बादशाह कलिगुला की ज़िन्दगी वर्णित है । कलिगुला धन कमाने के लिए देश में राष्ट्रीय वेश्यालयों की स्थापना करते हैं और आदेश ज़ारी करते हैं कि देश के हर एक नागरिक को अपने गाँव की राष्ट्रीय वेश्यालय में, हर महीने, कम से कम एक बार ज़रूर जाना चाहिए । जो नहीं जाता है उसे या तो देश से निष्कासित किया जाएगा या फाँसी की सजा दी जाएगी । इस तरह, तानाशाही धीरे-धीरे क्रूर रूप का धारण कर लेती है । और जब तानाशाह को आज्ञा का पालन नहीं किया जाता है तो वह निर्मम होकर जनता को दण्ड देने लगता है । अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को अमानवीय आज्ञाओं के अनुपालन के लिए विवश बनाएगा ।

तानाशाही में पूरे देश की आशा-आकांक्षाएँ सिर्फ एक व्यक्ति में सीमित हो जाती हैं । "इंदिरा हो इंडिया" जैसा कथन इसी वजह से उभर आता है । तानाशाही का चरम रूप तो वहाँ देखने को मिलता है जहाँ सत्ता के नशे में सराबोर सत्ताधीश, सिर्फ प्रजा पर अत्याचार

करना ही अपना कर्तव्य समझता है । वह दूसरों के दुख में सुखी होता है । सत्ता की सुरसामुखी भूख ही शासक को तानाशाह बनाती है । इस व्यवस्था के भीतर आम जनता निरंकुश सत्ता के गलियारों में घुटन खाकर जीते हैं । तानाशाह की सत्ता की जठराग्नि, सतत दावाग्नि की तरह फैलती ही जाती है । वहाँ ईमान, दया, सहानुभूति का तनिक भी अवकाश नहीं है । ममता, प्रेम, सदाचार की प्रवृत्तियाँ विपर्यय की काल-कोठरी में दम तोड रही हैं और मानवीय संबंध निचुड से जाते हैं ।

पूँजीवादी राज्य में भी सामान्य जनता निरंकुश सत्ता की निर्मम बेडियों से सब कहीं बन्दी है । पूँजीवाद में पूँजी और पूँजीपति ही सर्वप्रमुख है । यहाँ श्रमिकों को दबाकर रखा जाता है । उस का उद्देश्य, पूँजीवादी संपत्ति की हिफाज़त करना, मज़दूरी की प्रथा को बनाए रखना एवं सर्वहारा के क्रांतिकारी आन्दोलन को कुचल डालना है । सामाजिक तौर पर देखें तो समझ जाएगा कि पूँजीवाद में सामान्य जनता या श्रमिक लोग पूरी तरह असन्तुष्ट एवं अस्वतंत्र हैं ।

सामन्ती, तानाशाही एवं पूँजीवादी व्यवस्थाओं में जनता का विराट शोषण

इन तीनों प्रकार के राज्य शोषकों के हितों की हिफाजत करते हैं । आज़ादी के पाँच दशकों के बाद भी देश के ग्रामीण क्षेत्रों में ज़मीन्दारी-सामन्ती तत्वों का शासन पूर्ववत विद्यमान है । उन में वही अहंकार, वही अन्याय एवं शोषण की प्रवृत्ति मौजूद है । आज भी वे निम्न वर्ग की बहू-बेटियों को इज़्ज़त लूटते हैं । आज भी वे मज़दूरों से बेगार लेते हैं । बन्धुआ बनाकर रखते हैं । देश के पिछडे क्षेत्रों में ये सामन्ती अवशेष अपनी पकड अभी मज़बूत बनाए हुए हैं । आज भी इन क्षेत्रों में जन साधारण मानवीय अधिकारों से वंचित हैं । भारत में बिहार एक ऐसा प्रदेश है जहाँ सामन्ती अत्याचार एवं शोषण की घटनाएँ प्रति दिन सुनाई पडती हैं ।

वहाँ जातिगत आधार पर सेनाएँ गठित की हुई हैं जो उधर समानान्तर सरकार के अस्तित्व का आभास देती है । भूमि सेना, लोरिक सेना, लाल सेना, रणवीर सेना आदि का यहाँ की सत्ता पर अप्रत्यक्ष बागडोर है ।

शोषण की दृष्टि से, आज़ादी के बाद भी देश की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया है । सिर्फ शोषक और शोषण के रूप बदले हैं । आज़ादी के पहले, ज़मीन्दारों की शोषण-लीला अनवरत चल रही थी । बाद में देश की बागडोर जब इन्हीं के हाथों आ गई तो वे अपनी स्थिति को और मज़बूत बनाने लगे । सरकार और पुलिस की सहायता से ये जन साधारण पर आतंक और भय बरकरार रखने की कोशिश करते रहे । आज भी जाति-धर्मगत, भेद-भाव, ऊँच-नीच, छुआ-छूत की भावना तथा नारीशोषण विद्यमान है । उच्च वर्ग के ठाकुर, महिलाओं का यौन शोषण अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं । सामंती व्यवस्था में सूदखोरी, शोषण का एक पुराना एवं तेज़ हथियार है । बस एक बार कोई इन ब्याजखोरों के चंगुल में फस जाए, फिर आसानी से उस में से निकल नहीं पाता । ये न केवल उसका आर्थिक शोषण करते हैं, बल्कि बन्धुआ मज़दूरी जैसे अन्य प्रकार के दबाव भी डालते हैं ।

धर्म भी सामंती व्यवस्था में शोषण का एक सक्षम उपाय बन गया है । धर्म और ईश्वर की अवधारणा के मूल में चाहे कोई भी सिद्धांत रहा हो, यह एक प्रत्यक्ष सत्य है कि इस के माध्यम से मानव अपनी मुक्ति का लक्ष्य अभी तक प्राप्त नहीं कर पाया है । इस के विपरीत, धरम के नाम पर जन साधारण का खूब शोषण चलता ही रहता है । परलोक, पूर्व जन्म, पुनर्जन्म, कर्म, कर्मफल, भाग्य, आदि की कल्पना, जनता के शोषण को आसान बनाने के विभिन्न सामंती तरीका हैं । धर्म, स्वर्ग की लालसा और नरक के भय को लोगों के मन में पैदा करके उन्हें धर्म के ठेकेदारों के इशारे में नाचनेवाली गुड़ियों में तब्दील कर देता है । इस प्रकार सामन्ती व्यवस्था

में धर्म मानव-शोषण का एक ताकतवर आध्यात्मिक हथियार बन कर खड़ा होता है । वर्णाश्रम व्यवस्था की वजह से समाज दो वर्गों में बांटा गया कि बिना किसी मेहनत के साथ सुख भोगनेवाला एक वर्ग और दिन-रात काम करने पर भी आजीविका के लिए असमर्थ दूसरा वर्ग । सामन्ती व्यवस्था और वर्णाश्रम व्यवस्था के बारे में चर्चा करने पर, यशपाल का यही कथन याद आता है कि सामन्ती सभ्यता में आर्थिक व्यवस्था का धार्मिक नाम है वर्णाश्रम व्यवस्था ।[1]

तानाशाही शोषण का सबसे बड़ा यंत्र है । अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा तानाशाही ही क्रूरतम व्यवस्था है जो हमेशा दुनिया के ऊपर कब्जा करने के लिए सतर्क रहती है । इतिहास इस का गवाही है कि कई तानाशाह अपनी फौज़ की बलबूते पर या अपने सह-संबंधियों का कत्ल करके या उन्हें बन्दी बनाकर के देश पर आधिपत्य जमा करता है । यह एक व्यक्ति पर केन्द्रित व्यवस्था होने के कारण उस में जनमत का कोई स्थान नहीं । सिर्फ एक व्यक्ति के इशारे पर पूरे देश को चलना पड़ता है । अलबेर कम्यु का पात्र कलिगुला अपने सैनिकों को परेड करते समय समुद्र की ओर मार्च करने की आज्ञा देता है और पूरे सैनिक धीरे-धीरे मार्च करके समुद्र में डूब मरते हैं । इस तरह सिर्फ शासक की आज्ञाओं का सही अनुपालन करना ही तानाशाही व्यवस्था में जनता का कर्तव्य है ।

यहाँ शासक अपनी मर्जी के मुताबिक, अपनी शान दिखाने के लिए और सुख सुविधापूर्ण ज़िन्दगी के लिए जनता के अर्थ और शक्ति का दोहन करता है । गरीबी, तानाशाही शासन प्रणाली की एक विशेषता है । ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने अपने नाटक "शुतुरमुर्ग" में अपनी शान बढ़ाने

---

1. यशपाल - गाँधीवाद की शवपरीक्षा - पृ.

के लिए नगरी में स्वर्ण के शुतुरमुर्ग की स्थापना करने हेतु देश के पूरे धन का दुरूपयोग करनेवाले राजा और रोटी, कपडे और मकान की मांग उठानेवाले नागरिकों आमने-सामने खडा करके इस स्थिति की यथार्थता को व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है ।

तानाशाही व्यवस्था में जनता को तानाशाह के चमचों की ओर से होनेवाले शोषण को भी भोगना पडता है । इन चमचों द्वारा मज़दूरों, किसानों और अन्य लोगों से अपनी संपत्ति, ज़मीन आदि छीन ली जाती है, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक शोषण के अतिरिक्त स्त्रियों के साथ निर्मम अत्याचार भी तानाशाही का एक अभिन्न अंग है । ब्लडी मेरी के अतिरिक्त, रूस के इत्सार बादशाह, जर्मनी के अडोल्फ हिटलर, इटली के बनिटो मुस्सोलिनी आदि तानाशाह के लिए उदाहरण हैं । हर पल इस दुनिया की किसी भी व्यवस्था तानाशाही में तब्दील हो सकती है । जब अतिमानव की शासन पर प्रतिष्ठा मिल जाती है तब व्यवस्था जो कुछ भी हो, तानाशाही में परिवर्तित हो जाती है । उदाहरणार्थ फ्रांस को महान क्रांति के बाद नेपोलियन बोणापार्ट के एकाधिकार शासन की शुरूआत हुई । और जनतंत्र की भी अपने स्वभाव में तानाशाही में तब्दील हो जाने की संभावनाएँ हैं । क्योंकि लोकतंत्र में पार्टी व्यवस्था (Party system) होती है । वह एक पार्टी व्यवस्था हो, द्वि-पार्टी व्यवस्था हो या बहु पार्टी व्यवस्था हो, सिर्फ एक पार्टी का अधिनायकत्व होता है । उधर उस पार्टी के नेताओं तथा उस पार्टी के चमचों का स्वैच्छिक शासन चलेगा । पुलिस, न्यायालय, कानून, सब कुछ पार्टी नेताओं के लिए प्रस्तुत हो जाएगा । कुर्सी मिलने के बाद उसे अपने साथ बरकरार रखने के लिए जो कुछ भी करने से वे लोग हिचकते नहीं । इसी वजह से गुंडागर्दी का बोलबाला हो जाएगा और धार्मिक भावनाओं को ठेस लगाकर विभिन्न धर्मवालों को आपस में लडवाकर उससे मुनाफा उठाने का प्रयास भी क्यों न हो, चलेगा ही । इस तरह जनतंत्र के बीच में भी तानाशाही के तत्व छिपे रहते हैं ।

पूँजीवाद का दूसरा पहलू है शोषण । पूँजीवाद मज़दूरों को दबाकर रखने का शासन तंत्र है । उसका वास्तविक उद्देश्य, पूँजीवादी संपत्ति की रक्षा करना, सबसे ज़्यादा लाभ उठाना, मज़दूरी की प्रथा को बरकरार रखना एवं सर्वहारा के क्रांतिकारी आन्दोलन को कुचल डालना है । स्पष्ट है कि इस व्यवस्था में पूँजीपति हर पल अमीर होता चला जाएगा और मज़दूर वर्ग निरंतर गरीब भी । स्पष्टतः वर्ग-विभक्त पूँजीवादी समाज के कानून पूँजीपति वर्गों के हितों की रक्षा में रत प्रतीत होते हैं क्योंकि उन कानूनों के निर्माता वे स्वयं हैं । प्राचीन काल में ऐसे शोषणकारी कानून-नियमों को ईश्वरीय घोषित करके सामान्य जनता को मानसिक तौर पर उन नियमों का गुलाम बनाया । वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में भी इन का प्रमुख मकसद इस व्यवस्था को सुरक्षा कवच प्रदान करने का है ।

पूँजीवाद का नारा तो उत्पादन व्यवस्था में पूर्ण स्वतंत्रता तथा उत्पादन प्रक्रिया से अधिकतम लाभ है । उधर सरकार का हस्तक्षेप मना है । जिस के पास ताकत होती है, धन-दौलत होती है, वह देश का संचालन करेगा । उस के लिए हर बातों में सरकार अपनी तरफ से आवश्यक मदद पहुँचाने केलिए प्रस्तुत रहेगी । जैसा कि पहले सूचित किया गया, पूँजीवाद का नारा उत्पादन और लाभ पर केन्द्रित है । उत्पादन के लिए चार इकाइयों का संयोग अनिवार्य है, पूँजी, ज़मीन, श्रम और संगठन । इन में से किसी एक इकाई का न होने पर उत्पादन असंभव है । इन में एक इकाई - श्रम - मनुष्य है, सामान्य मनुष्य । चारों इकाइयों में, उत्पाद को मूल्यवान बनानेवाला एकमात्र इकाई श्रम ही है । लेकिन श्रम के लिए सब से कम प्रतिफल मिल जाता है । पूँजीवादी शोषण का सवाल उधर से शुरू होता है । पूँजीवादी नज़रिए से, श्रमिक लोग केवल उत्पादन की प्रक्रिया का एक अंग मात्र है । इसलिए ज़मीन और पूँजी से जितने लाभ उठा सकता है, उसी प्रकार श्रमिकों से भी अधिकतम लाभ उठाना ही पूँजीवाद की सामान्य शैली है ।

किस प्रकार एक संगठक कच्चे माल या ज़मीन को न्यूनतम दाम या किराए पर बेचता है या पूँजी को न्यूनतम सूद पर लेना चाहता है उसी प्रकार श्रम को भी न्यूनतम वेतन पर प्राप्त करना चाहता है । उत्पादन के अन्य साधनों की अपेक्षा श्रम जीवियों को भूख एवं ज़िन्दगी जब तक रहेंगी तब तक एक उत्पादक उन्हें बहुत ही सस्ते रूप से प्राप्त कर सकता है । अवाम का सब से ज़्यादा शोषण पूँजीवादी व्यवस्था में होता है ।

विभिन्न वैचारिक आन्दोलन और जनवादी चेतना

जनवादी चेतना के पीछे विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से द्रष्टव्य है । अथवा कई विचारधाराओं में जनवादी चेतना का आभास मिल सकता है । जनवादी चेतना से ओतप्रोत वैचारिक आन्दोलनों में गांधीवाद, मार्क्स वाद, मोन्तेस्क्यू, रूसो, अब्राहाम लिंकन आदि से लेकर अम्बेदकर, लोहिया एवं विनोबा भावे तक के महान व्यक्तियों के विचार, जयप्रकाश नारायण के सर्वोदय एवं संपूर्ण क्रांति संबंधी विचार आदि उल्लेखनीय है ।

जनवाद, लोकतंत्र के तत्वों के ज़्यादा नज़दीक है । जहाँ तक लोकतंत्र का सवाल है, उस में जनता ही सर्वप्रधान है । जनता की अनुमति से शासन किया जाता है । 1789 में फ्रांसीसी क्रांति के समय जनता ने अपनी शक्ति को पहचान कर ली । उस समय यूरोप में एक कहावत प्रचलित थी कि "कुलीन लडते हैं, पादरी प्रार्थना करते हैं और जनता कर देती है ।" अथवा उस समय समाज प्रमुख रूप से तीन वर्गों में विभक्त था - कुलीन, पादरी और जनता । इनमें तीसरा वर्ग गुलाम का है । इस वर्ग का एकमात्र कर्तव्य सरकार में कर जमा करना एवं अन्य दोनों वर्गों के लिए काम करना । मोंतेस्क्यू, रूसो और बोल्तेर जैसे चिन्तकों ने इस वर्ग-विभाजन पर सवाल उठाया ।

उन्होंने राजनीतिक स्वतंत्रता के बारे में अपनी राय प्रस्तुत की । मोन्तेस्क्यू ने तत्कालीन सामन्ती सामाजिक संबंधों की कटु आलोचना की । उस समय पूरे यूरोप चर्च के शासन के अधीन थे । उन्होंने चर्च की उस वर्चस्वता का स्पष्ट विरोध किया और राजनीतिक स्वतंत्रता का नारा लगाया । जनतंत्र के बारे में उन्होंने यों कहा, "जनतांत्रिक शासन वह है जिस में सर्वोच्च सत्ता सारी जनता अथवा उसके द्वारा समर्थित लोगों के हाथ में होती हैं ।"[1]

रूसो के अनुसार संपत्ति के आगमन से समाज में असमानता का आविर्भाव हुआ । "समाज और कानूनों ने कमज़ोरों के हाथ-पैरों में और भी बेड़ियाँ डाल दीं तथा धनी का हौसला और भी बढ़ा दिया । प्राकृतिक स्वतंत्रता को जड से नष्ट कर दिया । चतुराई से बलाद् ग्रहण को अटल अधिकार बना डाला और कुछ महत्वाकांक्षियों की खातिर सारी मानव जाति के भाग्य में मेहनत, गुलामी और गरीबी लिख दी ।"[2]

अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने लोकतंत्र की बहुत ही लघु परन्तु सारगर्भित परिभाषा प्रस्तुत की । गेटिस बर्ग में भाषण देते समय उन्होंने कहा, "लोकतंत्र में सरकार का रूप जनता की, जनता के द्वारा जनता के लिए होता है ।"[3]

मार्क्सवादी विचारधारा

जनवादी चेतना और विभिन्न वैचारिक आन्दोलनों की चर्चा के सिलसिले में, मार्क्सवादी विचारधारा की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं है । मार्क्सवाद ने विश्वभर की शोषित एवं पीड़ित जनता के सामने मुक्ति

---

1. मोन्तेस्क्यू - द स्पिरिट ऑफ लॉ - पृ. 8
2. रूस्सो - अईबिड - पृ. 178
3. नरेन्द्र सिंह - साठोत्तरी हिन्दी कविता में जनवादी चेतना - पृ. 22

का द्वार खोल दिखाया । मार्क्सवाद ही, सर्वप्रथम समाज के वर्ग-विभक्त स्वरूप को वैज्ञानिक ढंग से प्रकाश में लाया । इस दर्शन ने सर्वहारा वर्ग को खुद एकजुट होने के लिए आह्वान किया । वर्गहीन समाज के निर्माण के लिए सबसे पहले सर्वहारा वर्ग के बीच अपनी वर्ग-चेतना जागृत होनी चाहिए । वह वर्ग-चेतना सामाजिक परिवर्तन की दिशा में संघर्षरत रहने के लिए सर्वहारा वर्ग को तैयार करेगी । सर्वहारा वर्ग के जागरण से संबंधित इस दर्शन का प्रभाव जनवादी चेतना में अवश्य विद्यमान है ।

मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर जनतंत्र संबंधी अवधारणा कुछ अलग है । दरअसल मार्क्सवादी चिंतकों के अनुसार राजतंत्र और तानाशाही की तरह जनतंत्र भी दमनकारी राजसत्ता है । फरक तो महज इतना है कि एक में अल्पमत बहुमत का दमन करता है और दूसरे में बहुमत अल्पमत का । वी.आई.लेनिन ने जनतंत्र के बारे में अपना विचार स्पष्ट करते हुए कहा कि "जनतंत्र एक राजसत्ता है जो बहुमत के आगे अल्पमत की मातहती को मानती है यानी वह एक ऐसा संगठन है जो एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के खिलाफ, आबादी के एक भाग द्वारा दूसरे भाग के खिलाफ, व्यवस्थित रूप से हिंसा का इस्तेमाल करता है ।[1]

मार्क्सवादियों के अनुसार, समाज के पूँजीवादी वातावरण से पूरी तरह मुक्त किए बिना असली जनतंत्र की स्थापना असंभव है । मार्क्सवाद जनतंत्र को उस पूर्णावस्था तक ले जाना चाहता है जहाँ स्वयं जनतंत्र की भी आवश्यकता न रह जाए । लेनिन के अनुसार "पूँजीवादी समाज में जो गणतंत्र होता है वह कटा-छांटा, निकृष्ट और झूठा होता है । वह केवल रईसों के लिए, अल्पसंख्यक लोगों के लिए जनतंत्र होता है । अल्प संख्यकों को -

---

1. वी.आई. लेनिन - राजसत्ता और क्रांति - पृ. 10।

शोषकों को - आवश्यक रूप से दबाने के साथ-साथ सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व ही साम्यवाद में संक्रमण का काल है, जनता के लिए, जनता के बहुमत के लिए पहली बार जनतंत्र की सृष्टि करेगा । वास्तविक रूप से पूर्ण जनतंत्र की स्थापना केवल साम्यवाद ही कर सकता है और यह जनतंत्र जितना ही पूर्ण होगा उतनी ही तेज़ी से वह आवश्यक हो जाएगा और अपने-आप धीरे-धीरे विलुप्त हो जाएगा ।"[1] मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार ऐसा एक स्वतंत्र समाज के निर्माण के लिए मज़दूरों को संघर्ष करके समाज में मौजूद तमाम पूँजीवादी परिस्थितियों को ज़रूर समाप्त करना चाहिए ।

महान मार्क्सवादी चिंतक माओ-त्से-तुंग ने पूँजीवादी जनवाद और सर्वहारा जनवाद से भिन्न एक नए किस्म के जनवाद की अवधारणा प्रस्तुत की जिसे नव जनवाद कहते हैं । उन के अनुसार संसार में गणराज्य के प्रमुख तीन रूप होते हैं जैसे - पूँजीवादी वर्ग के अधिनायकत्ववाले गणराज्य, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्ववाले गणराज्य और कई क्रांतिकारी वर्गों के संयुक्त अधिनायकत्ववाले गणराज्य ।

इन में तीसरी श्रेणी के गणराज्य का रूप कई साम्राज्य-विरोधी वर्गों के संयुक्त अधिनायकत्व से बनता है जिसे नव जनवादी राज्य कहते हैं । सर्वहारा वर्ग, किसान, बुद्धिजीवी और निम्न पूँजीपति वर्ग के तमाम हिस्से इसकी संघटक सामाजिक शक्तियाँ हैं । और इन की नेतृत्वकारी शक्ति सर्वहारा वर्ग के हाथ में है । इस बात को वे चीन के उदाहरण द्वारा यों स्पष्ट करते हैं, "चीन जनवादी गणराज्य को, जिसकी हम स्थापना करना चाहते हैं, निश्चय ही सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में तमाम साम्राज्यवाद विरोधी और सामन्त वाद विरोधी लोगों के संयुक्त अधिनायकत्व के अंतर्गत एक जनवादी गणराज्य होना चाहिए ।"[2]

---

1. वी. आई. लेनिन - राजसत्ता और क्रांति - पृ. 111
2. माओ त्से तुंग की संकलित रचनाएँ ग्रन्थ 2 - विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पेइचिंग - पृ. 620

गांधीवाद का प्रभाव

सामाजिक क्षेत्र में गांधी ने अछूत्तोद्धार, अस्पृश्यता-निवारण आदि को प्राथमिकता दी है । समाज सेवा और सामाजिक उत्थान में उनका दूसरा लक्ष्य था "ग्राम" । ग्रामों की प्रगति, ग्रामोद्योगों की प्रगति, भरत की सामान्य जनता के सात लाख गाँवों का उत्कर्ष ही उनके लिए भारत का पुनरूत्थान था । गांधी की समूची चिन्ताधारा अन्याय को केन्द्र मानकर विकसित हुई । इसलिए उनके द्वारा लिए गए सभी कार्य और रचनाएँ बहुसंख्यक पीडित एवं शोषित लोगों को केन्द्र में रखकर क्रियान्वित हुई है । गांधी की इन विचारधाराओं पर नज़र दौडाते वक्त हमें मालूम हो जाएगा कि उनके विचार में जन-चेतना अवश्य थी । गांधी के मन में ऐसे एक समाज की स्थापना था जहाँ समस्त नागरिकों का कल्याण सुनिश्चित हो । लेकिन उसके व्यावहारिक पक्ष पर विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाएगा कि उन विचारधाराओं में कमियाँ ज़्यादा मौजूद हैं । क्योंकि वे अहिंसात्मक क्रांति और हृदय परिवर्तन पर ज़ोर देते हैं । वर्ग संघर्ष को अस्वीकार करते हुए शोषक वर्गों के हृदय-परिवर्तन द्वारा शोषण की बुराई को समाप्त करने में अडिग आस्था रखते हैं । वे वर्ग-संघर्ष को नहीं वर्ग-सहयोग को प्रोत्साहन देते हैं । वे चाहते थे कि एकसाथ शोषक और शोषित दोनों का अभ्युदय हो जाए । गाँधी के अनुसार "साम्यवाद का मतलब है कि वर्गहीन समाज । यह बेशक उत्तम आदर्श है और उसके लिए अवश्य कोशिश होनी चाहिए लेकिन जब इस आदर्श को हासिल करने के लिए हिंसा का प्रयोग हो तब मेरा रास्ता उस से अलग हो जाता है ।[1] गांधी ने दरअसल अमीरों को गरीबों के रक्षक के रूप में तब्दील करते हुए समाज में कल्याण लाना चाहा । उनके अनुसार सामाजिक एवं आर्थिक समानता प्राप्त करने के लिए एकमात्र मार्ग अहिंसा और हृदय परिवर्तन का मार्ग है, हिंसात्मक संघर्ष का नहीं । इस अवसर पर डॉ. नवलकिशोर का यह कथन उचित दीख पडता है -

---

1. हरिजन - 13 मार्च 1937

गाँधी के "यंग इंडिया" के निकले वक्तव्य को उद्धृत करते हुए डॉ. नवल किशोर ने लिखा है, "हम पूँजीपति को उन लोगों का संरक्षक बनने को आमंत्रित करते हैं जिन पर कि वह अपनी पूँजी की उत्पत्ति, रक्षा और वृद्धि के लिए निर्भर करता है ।" इस तरह सामाजिक असमानताओं को हृदय परिवर्तन के द्वारा हल करने का उनका आग्रह अनुचित एवं असंभव है ।

गाँधी-दर्शन में समाज और उस की बदहाली की वैज्ञानिक जाँच का स्पष्ट आधार नहीं है । फिर भी न्याय, आज़ादी और समानता की कामना और इनसान के साथ होनेवाले हर प्रकार के अन्याय का विरोध ये आयाम गाँधी को शोषित मानवता के निकट ले जाते हैं ।

राम मनोहर लोहिया

गाँधी-नेहरू युग की चिंतन प्रणाली में अपनी प्रखर बौद्धिकता और सामाजिक सूझ के कारण क्रांतिकारी मानवतावादी विचारों की छाप छोडनेवाला एक महत्वपूर्ण नाम है - डॉ. राम मनोहर लोहिया । राष्ट्रीय चिंताधारा की वामपंथी विचार-प्रणाली के प्रमुख सूत्रधार के रूप में डॉ. लोहिया इस देश की बौद्धिक मनीषा को प्रभावित करते रहे हैं ।

उन की चिंतन में जो सर्वप्रमुख मूल्य है, समता । वे अमीरी-गरीबी, जाति-पांति, लिंग-भेद आदि को दूर करके समता लाना ही मनुष्य का सबसे बडा दायित्व मानते हैं । वे कहते हैं, "प्रकृति का नियम जो भी हो, मनुष्य का नियम होना चाहिए, समता ।"[1] सामाजिक असमानताओं को दूर करने के लिए वे पूरी तरह बदलाव पर ज़ोर देते हैं और

---

1. लोहिया के विचार - पृ. 66

"राहत की राजनीति" का विरोध करते हैं । गांधी के अहिंसा और सत्याग्रह जैसे मानवतावादी मूल्यों का उन्होंने ज़रूर पुरस्कार किया, लेकिन मात्र हृदय-परिवर्तन और प्रायश्चित्त जैसे निहायत् अबोध मानवतावादी मूल्यों पर उनका भरोसा नहीं था । इस देश की चली आई वर्णाश्रम व्यवस्था और उसमें जन्मा वर्ण-भेद और शोषण की सामंती परंपरा के मुखालिफ लोहियाजी निरंतर लड़ते रहे । वे उस क्रांति का सपना देखते थे जिस में शोषित मनुष्य के प्रति सिर्फ हमदर्दी नहीं, बल्कि शोषक के विरोध में तीव्र प्रक्षोभ भी है । लेकिन वे हथियार के माध्यम से क्रांति करना नहीं चाहते हैं । दर असल वे हमेशा एक हथियारशून्य दुनिया को चाहते हैं । वे हथियार की जीत को पशुता की जीत मानते हैं । इसलिए उन के अनुसार सत्याग्रह का मार्ग जो सत्य का मार्ग है, अपनाना ही वाजिब है । इस के अतिरिक्त, विकेन्द्रित शासन प्रणाली का पुरस्कार करते हुए उन्होंने पीडित एवं शोषित सामान्य जनता के हाथों सत्ता के विकेन्द्रीकरण की बात कही है ।

समाज से संबंधित उन के विवेकपूर्ण धारणाओं शोषण-विहीन, मानवोन्मुखी आस्थाओं का मिला-जुला प्रभाव देश के प्रबुद्ध चिंतकों और लेखकों पर पडा है । खास कर यहाँ के जनवादी साहित्यकारों का एक गुट इस अर्थ में "लोहियाईस्ट" माना जा सकता है ।

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

भारतीय स्वाधीनता संग्राम और आज़ादी की निर्मिति से आज तक साहित्य की समाजोन्मुखी धारा में कुव्यवस्था का विरोध एवं अन्याय के प्रतिरोध की चेतना का वैचारिक बीज जिन भारतीय चिंतकों के व्यक्तित्व और कृतित्व में पाया जाता है उन में डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर का नाम अग्रणी है । यह सिर्फ इसलिए नहीं कि डॉ. अम्बेडकर सिर्फ एक

चिंतक थे । बल्कि इसलिए भी कि जनोन्मुखी साहित्य के लिए जिस रचनात्मक यथार्थ की ज़रूरत होती है उसका सही दिशा-निर्देश डॉ. अम्बेडकर के चिंतन और कृतित्व में मिलता है ।

देश की निम्न जातियों - दलित, पीडित वर्गों की मानसिकता में वर्णवादी जातिव्यवस्था के कारण जन्मी हीनता ग्रन्थी को बाहर करने के लिए उस जाति में परिवर्तनकारी जागरण की ज़रूरत को डॉ. अम्बेडकर ने पहचाना । इसी दिशा से जनसाधारण की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता तथा समानता का पहल वे करते रहे । भौतिक और मानसिक गुलामी के निवारण के लिए दलित जाति में राजनीतिक अस्मिता जगाने की ज़रूरत थी । डॉ. अम्बेडकर इस बात को भली-भांति जानते थे कि जनतंत्र की आत्मा और तद्जन्य मूल्यों की प्राप्ति के लिए एक लंबी लडाई करनी होगी । भौतिक गरीबी और मानसिक गुलामी का निवारण, मानवीय अधिकारों और कर्तव्यों की प्राप्ति, लोकतंत्र के आदर्श और मूल्यों की उपलब्धि के लिए इन तमाम बाधाओं के बीच खडे होकर संघर्षपूर्ण क्रांति करनी होगी । निम्न सांस्कृतिक जीवन बितानेवाले समाज को एक बेहतर सांस्कृतिक स्तर प्राप्त करना ही संस्कृति की विकासोन्मुखी प्रक्रिया का चरम लक्ष्य है - इस विश्वास के साथ डॉ. अम्बेडकर की रचना-यात्रा आगे बढती है । अभी तक लिखे गए जनवादी साहित्य, किसी न किसी स्तर पर डॉ. अम्बेडकर की मानवतावादी दृष्टि से दूर तक प्रभावित है ।

विनोबा भावे

विनोबा भावे व्यक्तिगत सत्याग्रह के प्रथम सेनानी है । स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए गाँधी ने जितने भी आन्दोलन चलाए, विनोबाजी उन सब में सक्रिय रूप से भाग लिए । उन के विचार समाज के निम्न स्तर के

लोगों की तरक्की पर आधारित थे । वे गाँधी के हृदय-परिवर्तन सिद्धांत पर विश्वास रखते थे ।भूदान यज्ञ के माध्यम से उन्होंने जो कार्य किया था, वे सब समाज के समस्त पिछड़े हुए वर्गों की उन्नति को लक्ष्य बनाकर ही किया था । हृदय-परिवर्तन सिद्धांत के साथ-साथ उन्होंने समाज-परिवर्तन के साधनों पर आध्यात्मिकता को भी भर दिया । याने समाज-परिवर्तन के लिए उन्होंने जो मार्ग बताया है वह पूरी तरह आध्यात्मिक है । उदाहरण के लिए, उनका विचार था कि भूदान यज्ञ में भूमि की आहुति देते समय, मन में यह भावना होनी चाहिए कि संपूर्ण भूमि गोपाल (ईश्वर) की है । इस प्रकार की भावना के अभाव में नवीन सर्वोदय सामाजिक व्यवस्था का निर्माण असंभव है । अत: भूदान आन्दोलन एक नैतिक क्रांति है । आध्यात्मिक होने पर भी विनोबाजी के विचारों के पीछे एक जनवादी अवश्य विद्यमान है ।

जयप्रकाश नारायण

भारत के एक प्रसिद्ध समाजवादी विचारक थे, जयप्रकाश नारायण । जयप्रकाश नारायण न केवल स्वतंत्रता के पूर्व अपितु स्वतंत्रता के पश्चात् भी सार्वजनिक जीवन में गहरी रुचि लेते रहे थे ।

उनकी समाजवादी विचारधारा में जन-शक्ति के प्रति ज़्यादा ध्यान दिया गया है । जयप्रकाश ने राजशक्ति के स्थान पर लोकशक्ति पर ज़ोर दिया है । उनकी राय में जनता में ऐसी शक्ति होनी चाहिए जिससे राज्य पर उसका प्रभाव पड सके । जनता अपनी शक्ति से अपनी समस्याएँ सुलझा सके । ग्रामदान में सामूहिकता की भावना बढ़ती है । फलस्वरूप ग्राम की शक्ति बढ़ती है । इसी योग शक्ति से सरकार को सही दिशा में मोडा जा सकता है । जिस कार्यक्रम से लोक शक्ति को जाग्रत किया जा सकता है वही जयप्रकाश के अनुसार क्रांतिकारी कार्यक्रम है ।

सर्वोदय संबंधी उन के विचार में भी जन चेतना ज्यादातर विद्यमान है । सर्वोदय उन के लिए समाजवाद का समीचीन है । सर्वोदय ऐसे वर्गहीन, जाति-विहीन और शोषण विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है जिस में प्रत्येक व्यक्ति और समाज को अपने सर्वांगीण विकास के साधन और अवसर प्राप्त होंगे । जयप्रकाश नारायण के अनुसार सर्वोदय और समाजवाद के बीच में बहुत सारी समानताएँ हैं । उन्होंने बताया, "जो कोई सर्वोदय योजना पढने का प्रयत्न करेगा उसे पता चलेगा कि इस योजना में समाजवादी दल के तात्कालिक कार्यक्रम का अस्सी प्रतिशत अंश निहित है ।"[1]

जयप्रकाश की "संपूर्ण क्रांति" संबंधी विचार भी बहुत प्रभावशाली जनोन्मुखी विचार है । "संपूर्ण क्रांति" शब्द का प्रयोग उन्होंने सर्वप्रथम पटना के गाँधी मैदान में 5 जून 1974 को विशाल सभा को संबोधित करते हुए किया था । आज़ादी के बाद से भारतीय जनता कष्टों से कराह रही है । भुखमरी, मूल्यवृद्धि, भ्रष्टाचार, आदि से सर्वत्र देश आकुल था । व्यक्ति को हर दिन अनेक अन्याय सहने पडते हैं । लाखों की संख्या में नव युवक बेकार हैं । गरीबी अपने नंगे रूप में नाच रही है । भूमि-हीनों की संख्या बढ गई । गरीब किसानों की भूमि जबरदस्ती उनसे छीन ली जाती थी । जयप्रकाश ने गाँधी के पूर्ण स्वराज के अधूरे काम को पूरा करने के लिए संपूर्ण क्रांति का आह्वान कर दिया । संपूर्ण क्रांति एक नए समाज का निर्माण चाहती थी । इसलिए वह सरकार, समाज, शिक्षा, चुनाव, बाज़ार और विकास योजनाओं, हर चीज़ों में परिवर्तन चाहती हैं । जयप्रकाश के अनुसार ऐसी संपूर्ण क्रांति स्वयं जनता ही कर सकती है, और उसे ही वह करनी चाहिए । ऐसी क्रांति के लिए लोक-शक्ति के जागरण पर वे संकेत करते हैं ।

---

1. अंजनी कुमार जमदग्नि - जयप्रकाश नारायण : राजनैतिक और सामाजिक विचार - पृ. 213

क्रांति सरकार की तरफ से नहीं जनता की शक्ति से होगी । उनके अनुसार जन-शक्ति ही क्रांति का प्रमुख साधन है । वास्तव में यही जनवादी चेतना का मूल नारा है । वैचारिक स्तर पर जयप्रकाश की यह संपूर्ण क्रांति और जनवादी चेतना दोनों के साध्य-साधन पक्ष में काफी समानताएँ मिल सकती हैं ।

प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना और जनवादी चेतना

जनवाद समाज के उपेक्षितों की प्रगति की कामना करता है । साहित्य में आज हम जिस जनवादी धारा से परिचित होते हैं, उस के पीछे प्रगतिशील लेखक संघ की एक ऐतिहासिक भूमिका होती है ।

इस वर्ग-विभक्त समाज को वर्गहीन बनाने तथा विश्व में सर्वहारा के अधिनायकत्व का ऐलान करनेवाले मार्क्सवाद ने मनुष्य को अपने समाज और जीवन के प्रति एक नया नज़रिया प्रदान किया । मार्क्सवाद समूचे विश्व में सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में परिवर्तन की नई लहरें लाई । रूस में हुई अक्तूबर क्रांति इन परिवर्तनों की गवाही हैं । अक्तूबर क्रांति के बाद 1935 में सुप्रसिद्ध उपन्यासकार ई.एम.फोस्टर की अध्यक्षता पर पेरिस में "प्रगतिशील लेखक संघ" नामक एक अंतराष्ट्रीय संस्था की स्थापना इन परिवर्तनों की सहज परिणति है । इस संस्था से प्रेरणा पाकर 1936 में सज्जाद ज़हीर और मुल्कराज आनन्द की अगुवाई में "अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ" की जड़ें भारत की मिट्टी में रोप दी गई । लखनऊ में उस का प्रथम अधिवेशन प्रसिद्ध उपन्यासकार मुंशी प्रेमचन्द के सभापतित्व में हुआ । इस अधिवेशन में उत्तरी भारत के कई महान लेखकों ने -जिन में सुमित्रानन्दन पंत, यशपाल, रशीउजहाँ, फैज़ अहमद फैज़, सज्जाद ज़हीर तथा हीरेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय आदि प्रमुख थे, सक्रिय भाग लिया । प्रेमचन्द ने अपने अध्यक्षीय भाषण में तत्कालीन साहित्य में निष्क्रियता की आलोचना

करते हुए लेखकों तथा साहित्यकारों को समाज के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाने की सलाह दी । साहित्य की महत्ता एवं श्रेष्ठता का मानदंड प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा, "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिस में उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हम में गति और संघर्ष की बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब और ज़्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है ।"[1]

इस संस्था का प्रमुख लक्ष्य था भारत के भिन्न-भिन्न भाषा प्रान्तों में लेखकों को संगठित करते हुए प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि, जो कलात्मक दृष्टि से निर्दोष हो तथा जिस के माध्यम से सांस्कृतिक अवसाद को दूर कर भारतीय स्वाधीनता और सामाजिक उत्थान की ओर बढा जा सके । प्रगतिशील लेखक संघ के मंत्री श्री सज्जाद ज़हीर ने लिखा है -"वर्तमान साहित्यिक समस्याओं पर विचार करने के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं के सिद्धहस्त लेखकों का एकत्रित होना इस बात का द्योतक था, कि वे सभी सचेत और ईमानदारी राष्ट्रप्रेमी बुद्धिजीवियों का सांस्कृतिक मोर्चा संगठित करने के लिए परम उत्सुक हैं, जिस से इस संकटग्रस्त परिस्थितियों में जब हमारी सभ्यता और संस्कृति के लिए अभूतपूर्व विपत्ति उठ खड़ी हुई है, जबकि फासिस्ट आततायियों के हाथ उस को जड मूल से विनष्ट होने का भय है, वे जनता को संगठित करके पलायनवादी और निराशावादी मनोवृत्ति के विरुद्ध लड करके सांस्कृतिक और आत्मिक धरातल को सुरक्षित बना अपने कार्मिक कर्तव्य का पालन कर सके और जनता जनार्दन की सेवा में हाथ बंटा सकें ।"[2]

---

1. प्रगतिवादी समीक्षा - श्रीराम प्रसाद त्रिवेदी - पृ. 102
2. वही - पृ. 106

प्रगतिशील लेखक संघ के आविर्भाव से भारतीय समाज एक नया स्वरूप धारण करने लगा । समूचे भारतीय साहित्य को जनोन्मुख बनाने एवं प्रगतिशील विचारधारा से परिचित कराने का श्रेय इस संस्था को जाता है । साहित्य में जनसामान्य को महत्वपूर्ण स्थान मिलने लगा । जन-शक्ति पर ज़ोर देनेवाले इस साहित्य में शोषितों के जीवन के यथार्थों को ही नहीं शोषण के प्रति उन की प्रतिक्रिया को भी अभिव्यक्ति मिली । प्रगतिशील साहित्य ने भारतीय जनमानस में सामाजिक समस्याओं और उन के आर्थिक संबंधों के प्रति एक वैज्ञानिक नज़रिए को पैदा किया । इस ने ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए सभी धार्मिक अन्धविश्वासों से मुक्त होने के लिए समाज को आह्वान किया । सर्वोपरि समष्टि चेतना को जागृत करने का खूब प्रयास किया । इस तरह प्रगतिशीलता के उस दौर में जनशक्ति की महत्ता, सामाजिक तथा आर्थिक संबंधों के प्रति वैज्ञानिक नज़र आदि ने समष्टि-चेतना के रूपायन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है ।

इस प्रगतिशील साहित्य का प्रभाव केवल हिन्दी साहित्य तक ही सीमित न रहकर अन्य भारतीय भाषाओं पर भी बडी तीव्रता से पडा । इसी समय प्रेमचन्द द्वारा संपादित "हंस", भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा प्रकाशित "नया साहित्य" जैसे समाजवादी मासिक पत्रों तथा "भारतीय जन-नाट्य संघ" जैसे नाट्य संस्थाओं ने भारत में प्रगतिशील भावना के प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान दिया । इन माध्यमों से प्रगतिशील लेखक संघ के आकांक्षित आदर्शों पर व्यापक प्रकाश पडा जो समाज में समष्टि चेतना या जन-चेतना का संचार करने में काबिल सिद्ध हुआ ।

जाहिर है कि जनवादी साहित्य के सृजन के मूल में प्रगतिशील साहित्य आन्दोलन का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है । और प्रगतिशील साहित्य आन्दोलन ने ही वह भूमि तैयार की जहाँ जनवादी साहित्य आन्दोलन के बीज

उगने लगे । लेकिन हमें यही बात याद रखनी चाहिए कि भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रवर्तन में हुआ परिवर्तन एवं गति में हुई मंदता ने ही जनवादी साहित्य जैसी एक नई साहित्य धारा की उत्पत्ति को अनिवार्य बनाया । इस लिए जनवादी चेतना पर चर्चा करते वक्त प्रगतिशील लेखक संघ की अंतिम परिणति पर भी विचार करना पडेगा ।

युद्धोत्तर काल में प्रगतिशील आन्दोलन का उत्कर्ष, क्षीण पडने लगा । इस के कई बाह्य तथा आंतरिक कारण थे । बाह्य कारणों में विरोधियों के भ्रामक प्रचार के अतिरिक्त शासकीय दमन और उस का भय ही प्रमुख था । आंतरिक कारणों में वामपक्षी संकुचित भावना अथवा अनुदारता प्रमुख थीं । अवरोधक शक्तियाँ ज़्यादा से ज़्यादा प्रखर होती गईं । फिर भी 1949 में अखिल भारतीय अधिवेशन के रूप में एक नई जागृति पुनः लक्षित हुई । सरकार का दमन चक्र तब भी तीव्र था । लेकिन इस संगठन-मूलक प्रयत्न को अंतिम परिणति विघटनकारी तत्वों को जन्म देने में ही हुई । इस अधिवेशन के पश्चात् प्रगतिशील आन्दोलन का संचालन सूत्र वामपंथी लेखकों तथा साहित्यकारों के हाथों में खिसक आया जो आगे चलकर विघटन का प्रमुख कारण सिद्ध हुआ ।

साहित्य क्षेत्र की यह वामपंथी संकीर्णता दरअसल सियासती क्षेत्र से ही आई थी । युद्धोत्तर काल में कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व पूरण चन्द जोशी के हाथों से निकलकर अतिशय वामपक्षी नेता श्री बी. टी. रणदिवे के हाथों पहुँच गया । और उन के बुद्धिवादी मोर्चे ने प्रगतिवादी आन्दोलन पर अपनी संकीर्णता तथा अतिवादिता से ज़ोरों का प्रहार किया ।

प्रथमतः वामपक्षी संकीर्णता ने कई प्रगतिशील लेखकों तथा उन की कृतियों को जन साधारण से अलग कर अपने दायरे में ही सीमित कर

दिया । दूसरे उक्त संकीर्णता ने साहित्य के कला पक्ष को दबाकर उस पर राजनीतिक सिद्धांतवादिता का बोझ ला दिया । संगठन की दृष्टि से, जिन प्रगतिवादी लेखकों ने गत वर्ष में पारस्परिक सहयोग तथा सम्मिलित प्रयत्न से एक नई साहित्यिक चेतना के उद्भव तथा विकास में योग दिया था, वे खुलकर आलोचना-प्रत्यालोचना के क्षेत्र में कूद पड़े । सन् 1950 के बाद प्रांतीय तथा जिला स्तर पर प्रगतिशील लेखकों के यत्र-तत्र सम्मेलन भी हुए, लेकिन इन प्रयत्नों के द्वारा भी प्रगतिवादी आन्दोलन विशेष सक्रिय न हो सका ।

यों हम देखते हैं कि प्रगतिवादी आन्दोलन का इतिहास सन् 1950 के बाद लगभग समाप्त-सा हो गया । सन् 1951 के प्रारंभ में संयुक्त मोर्चे के अंतर्गत एक व्यापक धरातल पर भारत के जनवादी लेखकों को संगठित करने का प्रयास अवश्य किया गया । "हंस", "नया साहित्य", "नई चेतना" जैसी पत्रिकाओं में कुछ महीनों तक इस संबंध में ज़ोरों की बहस भी चली, अनेक प्रगतिशील लेखकों ने जो प्रगतिशील लेखक संघ से संबद्ध थे, या जो संकीर्ण मतवादियों का दौर-दौरा होने से पहले उस में थे, उस बहस में भाग लिए । यह जनवादी विचारों के आविर्भाव का कारण बन गया ।

स्पष्ट है कि जनवादी साहित्य के आगमन के पीछे प्रगतिशील लेखक संघ का प्रभाव दो प्रकार से पड़ा है । एक तो प्रगतिशील साहित्य की चिंताधारा ने जनवादी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि को सुदृढ बनाया । अथवा प्रगतिवादी साहित्य ने जनवादी साहित्य के लिए वैचारिक नींव डाली है । दूसरी ओर आज़ादी के बाद प्रगतिशील साहित्य आन्दोलन में हुई दायित्वहीनता ने परोक्ष रूप से जनवादी साहित्य के स्थायन के लिए अपना मार्ग छोड दिया ।

ज़ाहिर है कि प्रगतिवादी साहित्य के कोरे बुद्धिवाद को नकार करते हुए, समाज के उपेक्षितों की समस्याओं को प्रधानता देकर, जन सामान्य के बीच, जन सामान्य के लिए जो साहित्य उत्पन्न हुआ है, वही "जनवादी साहित्य" नाम से जाना जाता है । उस साहित्य के रूपायन के पीछे प्रगतिशील लेखक संघ और उस के बहुसंख्यक लेखकों का अपना महान योगदान भी अवश्य होता है ।

जनवादी चेतना और जनविरोधी शक्तियों का विरोध

जनवादी चेतना और समाज विरोधी शक्तियों का विरोध, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । जनवादी चेतना निरंतर जन विरोधी या समाज विरोधी ताकतों के खिलाफ संघर्षरत है । समाज विरोधी ताकतों का उदय सत्ता-लिप्सा, पूँजीवाद, धार्मिक कट्टरतावाद, सांप्रदायिकता, ज़मीन्दारी मानसिकता आदि से होता है । ये समाज विरोधी शक्तियाँ जनवादी चेतना या जन आन्दोलनों का दमन करने के लिए सदैव सतर्क रहती है । जनवादी चेतना आम आदमी यानी तीन चौथाई अशिक्षित लोगों की आशा-आकांक्षाओं से जुड़ी हुई है । वह जनता में जनता का बोध पैदा करती है, वर्तमान स्थिति से मुक्त होने के लिए मार्ग दिखाती है । और संघर्ष करने के लिए उन्हें तैयार भी करती है । जनता में यह जागरण समाज विरोधी शक्तियों के लिए बरदाश्त नहीं । वे अपनी पूरी ताकत को इकट्ठा करके सब कुछ अपने नियंत्रण में रखने का प्रयास करती हैं ।

जनवादी साहित्य, शासितों, पीड़ितों के पक्षपाती है । इसलिए उसे सत्ता से जूझना पड़ता है क्योंकि मानव समाज के आरंभ से ही सत्ता अपनी इच्छा के अनुसार जनता को नियंत्रण में रखने का प्रयास करती हुई आई है । इस प्रयास के दौरान सत्ता ने जनता को अपने सारा सपने,

सारी आकांक्षाएँ छीन लिये हैं । कभी कभी उनके जीवन को निर्दयता से कुचल दिया । उनकी लहू की अंतिम बूँद तक पी लिया । और उसने जनता की आवाज़ को, जो विद्रोह का आक्रोश हो या वेदना की चीख क्यों न हो, बाहर निकलने न दिया । सत्ता की ये काली करतूतें अब भी ज़ारी रही है । साथ-ही-साथ जनता के विद्रोह भी चल रहा है । जनवादी चेतना के मूल में इन दमन नीति के साथ घोर संघर्ष करने की नई ऊर्जा होती है ।

देश की संपूर्ण संपत्ति के अस्सी प्रतिशत भाग संपूर्ण आबादी के बीस प्रतिशत लोगों के हाथों सुरक्षित है । और अस्सी प्रतिशत गरीब लोगों को जो देश के लिए अहरनिराम कमरतोड काम कर रहे हैं, संपूर्ण संपत्ति के बीस प्रतिशत के बल पर मौत से लड़ना पड़ता है । जनता को आर्थिक क्षेत्र पर ऊपर उठाने के लिए स्वतंत्रता के पश्चात् कई योजनाएँ बनाई गई हैं । यह प्रक्रिया अब भी ज़ारी है । फिर भी देश में आर्थिक असमता अब भी जैसे की तैसी दिखाई दे रही है । तात्पर्य यह है कि पूँजीपति वर्ग अपनी पूँजी सुरक्षित रखने के लिए हमेशा सतर्क रहते हैं । पूँजीपति अपनी पूँजी को सुरक्षित रखने के लिए सामान्य जनता की आर्थिक स्थिति सीमाबद्ध करने का प्रयास करता है । इस प्रयास के फलस्वरूप कई समाज विरोधी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं ।

सरकार और राजनीति भी उन पूँजीपतियों के लिए प्रस्तुत हैं । जब देश के सिंह भाग में आनेवाली आम जनता इन असमानताओं के खिलाफ आवाज़ उठाती हैं तो पूँजीपतियों की ओर से उन जन आन्दोलनों को असफल बनाने की कोशिश की जाती है । जनवादी चेतना में इन आर्थिक असमानताओं के प्रति प्रतिक्रिया भाव रहता है । इसलिए जब कभी उसे आर्थिक असमानता के खिलाफ आवाज़ उठाना पड़ता है तब पूँजीपतियों, उनके गुंडागर्दियों तथा चमचागीरियों से भी संघर्ष करना पड़ता है

हमारा देश अब भी सांप्रदायिकता और धार्मिक कट्टरतावाद की पकड से मुक्त नहीं है । आजकल सांप्रदायिकता और धार्मिक कट्टरतावाद कुछ और बल प्राप्त हुआ दिखाई पडता है । जनता को "जनता" बनानेवाली शक्ति उस की एकता है । सांप्रदायिकता के कारण यह एकता नष्ट हो जाती है । और जनता कभी न आपस में मिल जाने की तरह विच्छिन्न हो जाती है । इसलिए जनता को जनता में तब्दील होने के लिए इस सांप्रदायिकता से ऊपर उठकर स्वतंत्र एवं संगठित होना ज़रूरी है । जनवादी चेतना को इस दृष्टि से सांप्रदायिकता से संघर्ष करना पडता है ।

समाज विरोधी शक्तियों में सबसे ताकतवार इकाई है, धार्मिक कट्टरतावाद । धर्म ने अनेक सामाजिक विसंगतियों का बीज बोया, जाति-पांति, छुआ-छुत आदि ने शोषण के मार्गों को खोल दिया । लेकिन भारत में प्रगतिशील आन्दोलनों के आविर्भाव के साथ धर्म के प्रति जनता की नज़र में ज़रूर परिवर्तन आ गया । लेकिन बाद में धार्मिक कट्टरतावादी लोग इन प्रगतिशील एवं वैचारिक आन्दोलनों को दबाने एवं कुचलने की हर कोशिश करते हुए वह सडी-गली धार्मिक मान्यताओं एवं आचारों को वापस लाने का प्रयास कर रहे हैं ।

ज़मीन्दारी मानसिकता एक समाज विरोधी ताकत है । स्वतंत्रता के पाँच दशकों बाद भी हमारे देश में ज़मीन्दारी-सामन्ती तत्वों का शासन यथापूर्व स्थिति में मौजूद है । आज भी वे निम्न वर्ग की बहू-बेटियों की इज़्ज़त लूटते हैं, बन्धुवा बनाकर रखते हैं । जाति-धर्मगत भेद-भाव, ऊँच-नीच, छुआ-छुत की भावना तथा नारी शोषण विद्यमान है । सामंती-ज़मीन्दारी व्यवस्था में धर्म भी मानव शोषण का एक सशक्त आध्यात्मिक हथियार बन कर ही रह गया । सामन्ती व्यवस्था में ही नहीं, आज के

लोकतंत्र में भी यह स्पष्ट रूप से दृष्टव्य है । ज़मीन्दारी मानसिकता हमेशा जनता के विरोध में रहती है । जनता को इन ज़मीन्दारी सभ्यता या मानसिकता से मुक्त करने की इच्छा जनवादी चेतना के अंतर्गत पाई जाती है ।

ऊपर चर्चित समाज विरोधी शक्तियों के बारे में विचार करते समय हमें यही मालूम हो जाता है कि जनवादी चेतना इन समाज-विरोधी शक्तियों से इसलिए विरोध करती है कि देश में "जनता" बन जाए । जनता के बिना ऐसे एक देश की स्थापना असंभव है, जहाँ स्वतंत्रता एवं एकता हो ।

नाटक : जन-जागरण का जीवन्त माध्यम

नाटक एक सशक्त जनवादी कला माध्यम है । साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा, नाटक ज़्यादा से ज़्यादा जन-जीवन से जुड़ा रहता है । अर्थात् वह आदमी को आदमी की नज़रिए से देखता है । वह आदमी को आदमी से अलग नहीं करता है । इसलिए नाटक हमेशा समस्त लोगों का होता है । सामाजिक समस्याओं को पूरी ईमानदारी के साथ जनता की मनो-भूमि पर घुसा देने के लिए जो शक्ति नाटक में मौजूद है, वही नाटक को जन-जागरण का एक जीवन्त माध्यम बनाता है ।

जनसामान्य को प्रबुद्ध करना ही नाटक का प्रमुख मकसद होता है । जन-जागरण के माध्यम के रूप में नाटक को निर्मित करनेवाली खासियत उस की दृश्यात्मकता एवं श्रव्यात्मकता है । एक दृश्य-श्रव्य माध्यम होने के नाते अशिक्षित लोग भी नाटक आसानी से समझ सकेंगे । इसलिए ही नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि ने नाटक को पंचम वेद कहा है । क्योंकि यह चातुर वर्ण्य के बाहर के लोग या पंचम वर्ग भी समझ सकता है ।

नाटक की दूसरी एक खासियत यह है कि वह हमेशा जनता से सीधा संबद्ध रहता है । जनता से अलग होकर नाटक का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं । यहाँ अभिनेता एवं दर्शक दोनों का सह-अस्तित्व अनिवार्य है । किसी एक की अनुपस्थिति में नाटक नहीं हो सकता । इसलिए नाटक द्वारा जो संप्रेषित करना चाहता है, वह पूरी तरह जनता के मन पर पड जाता है । इसलिए नाटक द्वारा जनता में आसानी से जागरण पैदा कर सकता है । भारतीय जन नाट्य संघ (IPTA), जननाट्य मंच जैसे नाट्य मंडलियों की विजय नाटक की इस विशेषता पर आधारित है ।

नाटक एक सामाजिक साहित्य है - नाटककार, अभिनेता एवं दर्शक, तीनों को सम्यक् समाज चेतना और सामाजिकता के बिना नाट्य रस की सिद्धि संभव नहीं । नाटक में जनता की भागीदारी ज़रूर होनी चाहिए । सामाजिक या दर्शक के बिना नाटक खेलना मुमकिन नहीं है । अतः हम कह सकते हैं कि "नाटक जनता का जनता के लिए जनता द्वारा खेला जाता है ।" इस डेमोक्रेटिक स्वरूप जन जागरण के लिए बहुत कारगर है ।

नाटक में केवल क्रिया मात्र नहीं है, प्रतिक्रिया के तत्व भी मौजूद हैं । अथवा रंगमंच में जो कुछ होता है, वह नाटक नहीं है परन्तु रंगमंच की क्रियात्मकता से जो प्रभाव पैदा होता है, वही नाटक है । इसलिए ही नाटक को "रिएक्टिव आर्ट" कहते हैं ।[1] जनता की प्रतिक्रिया द्वारा नाटक और अधिक सशक्त हो जाता है, विकसित हो जाता है । अर्थात् जनता की प्रतिक्रिया नाटक में भी परिवर्तन लाती है । इसलिए समय, सामाजिक तथा राजनीतिक परिवेश आदि के बदलाव के साथ नाटक के मंचन में भी परिवर्तन होता है । अब खेले जानेवाला नाटक दस साल के उपरांत

---

1. इन्द्रनाथ चौधरी - हिन्दी नाटक और रंगमंच - पृ. 17

खेलते समय तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिवेशों के अनुसार बदल जाएगा । सिनेमा, चित्रकला जैसे अन्य दृश्य माध्यमों में यह सुविधा उपलब्ध नहीं है । यह खासियत किसी भी हालत में जनता को जागृत करने के लिए एक नाटक को काबिल बनाती है ।

भारतेन्दु युगीन नाटकों का उदय नाटक की जन-जागरण शक्ति का परिणाम है । स्वयं भारतेन्दु ने नाटक की इस खासियत को समझते हुए जनता में राष्ट्रीयता जगाने, अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध जन मानस को मुडाने तथा जनता को प्रबुद्ध करने के लिए इस विधा को चुन लिया । भारतेन्दु के सभी नाटकों ने तत्कालीन देशवासियों की आँखों को खुला दिया भारतेन्दु ने नाटक द्वारा जिस जन-जागरण की प्रक्रिया की शुरूआत कर दी है वह द्विवेदी युग को पार करती हुई प्रसाद युग से होकर समसामयिक नाटकों में भी प्रवाहमान है ।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत के प्रगतिवादियों ने नाटक की इस जन जागरण शक्ति को समझ लिया था । उस का परिणाम है भारतीय जन नाट्य संघ की स्थापना । भारतीय जन नाट्य संघ द्वारा तत्कालीन भ्रष्ट प्रशासन के खिलाफ जनता को खडा कराने तथा प्रगतिवादी विचारधारा से जन सामान्य को परिचित कराने का सफल प्रयास कियागया था । बाद में सफदर हाश्मी के जन नाट्य मंच ने नाटक की इस जन जागरण क्षमता का पूरा का पूरा उपयोग किया था ।

आज तो नक्सलवादी गतिविधियों में लगे युवक, शोषितों को मोर्चाबद्ध करने के लिए इस का भरपूर उपयोग कर रहे हैं । बिहार, आन्ध्रा प्रदेश और पंजाब में विशेष रूप से नाट्य मंडलियाँ नाटकों का

मोर्चा संभाल रही है । अभिप्राय यह है कि क्षेत्रीय समस्या के माध्यम से शोषितों, पीड़ितों के अंतर्मन में क्रांति-चेतना प्रज्वलित करना ही इन का मकसद होता है ।

नाटक की ये खासियतें हम से बार-बार बात करती है कि नाटक जन-जागरण के माध्यमों की उत्तम गवाही है ।

समष्टि चेतना में पनपती जनवादी चेतना

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । सामाजिक प्राणी होने के नाते उस में समाज और उसकी गतिविधियों से संबंधित एक बोध अवश्य रहता है । इस सामाजिक चेतना ने ही मनुष्य को मनुष्य बनाया है । मानव संस्कृति और सभ्यता के निर्माण का आधार ही समाज चेतना है । जब मनुष्य ने समष्टि को स्वीकार किया तब उस की ज़िन्दगी में एक नई गति आ गई । दरअसल समष्टि चेतना इनसानियत पर आधृत है । क्योंकि समष्टि चेतना में मनुष्य अपनी व्यष्टि चेतना का दमन करके दूसरों के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है । दूसरों को भी हमारी तरह समझता है । इन्सानियत की नज़र ज़्यादा तीव्र हो जाती है । इनसान और इनसान की परस्पर पहचान संभव हो जाती है । जब मानव समष्टि चेतना से अलग रहता है तब वह समाज विरोधी बन जाता है । जब व्यष्टि का अहम समष्टि पर अपना अधिकार जमाने का प्रयास करता है तब व्यष्टि और समष्टि में संघर्ष पैदा हो जाता है ।

समष्टि चेतना से तात्पर्य यह है कि एक मनुष्य में समूह की महत्ता और अस्तित्व का बोध, जिस में स्वयं एक सामाजिक प्राणि बनने तथा दूसरों की सामाजिक ज़िन्दगी पर कोई व्यवधान न पहुँचाते हुए

जीने की जानकारी अवश्य रहती है । इस प्रकार जीने के लिए हमें समाज के बहुसंख्यकों के हितों के अनुकूल व्यवहार करना पडता है । यही जानकारी ही समष्टि चेतना का मूल स्वर है ।

समष्टि चेतना चूँकि अपने आप में व्यक्ति की बृहत्तर सामाजिक चेतना के साथ संबंधों का एक विशिष्ट बुनाव है, इसलिए इस में मानवीय संबंधों की बेहतरी का एक नया खाका बनता है । इसलिए यह बहुत स्पष्ट है, इन नए संबंधों की नींव व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक यथार्थ पर टिकी न हो कर परिवेशगत सामाजिक यथार्थ और उस के मनोवैज्ञानिक स्रोतों पर टिकी हुई है । इसलिए सामाजिक चेतना मूलत: और अंततःयथार्थ संदृष्टि का रचनात्मक रूप है । समष्टि चेतना परिवेशगत होने के कारण वह सामाजिक यथार्थों पर दृष्टि पहुँचाती है । उधर बहुसंख्यक जनता की पीडाओं तथा जीवन संघर्षों की ओर ध्यान आकर्षित करता है ।

इसी समष्टि चेतना से ही जनवादी चेतना उत्पन्न होती है । क्योंकि जनवादी चेतना इस समाज के बहुसंख्यक हताश, अशरण, गरीब, भूखे-नंगे, उपेक्षित लोगों का पक्षधर है । इस प्रकार उपेक्षित जनता के पक्षधर होने के लिए जनवादी चेतना समष्टि चेतना से संबंध रखे बिना नहीं रह सकती । क्योंकि समष्टि चेतना में निस्वार्थता का भाव अधिक मौजूद है ।

जनवादी चेतना में समाज की संरचना को पूरे समाज के हितों के अनुकूल परिवर्तित करने की इच्छा रहती है । मतलब यह है कि समाज को संचालित करनेवाले सारा नियम समाज के बहुसंख्यक लोगों के हितों के अनुकूल नहीं हो सकता है । क्योंकि समाज की उत्पत्ति से लेकर अब तक की यात्रा के दौरान कई नियम समाज के विशेष वर्गों की स्वार्थपूर्ति के नियम बन गए हैं । फिर भी वे सामाजिक नियमों के नाम से चल रहे हैं । लेकिन

ये सब जनवादी चेतना के अंतर्गत सामाजिक नियम नहीं होता है । इसलिए ऐसे सड़ी गली नियमों को अपनी जड़ से उखाड़ कर फेंकने की बलवती इच्छा जनवादी चेतना में विद्यमान है ।

समष्टिचेतना से वंचित सामान्य जनता में समष्टिचेतना जगाकर उन्हें समाज की मुख्यधारा में मिलाना ही जनवादी चेतना का धर्म या कर्तव्य है । सामान्य जनता सामाजिक बोध से बहुत अधिक दूर रहती है । वे अपने को नहीं पहचानती हैं । अपने चारों ओर क्या हो रहा है, वास्तव में क्या होना चाहिए इन बातों पर उन की कोई जानकारी नहीं है । वे इस से अनभिज्ञ है कि वे शोषित है । एक जनवादी साहित्यकार उन्हें यही समझाता है कि वे शोषित है । उधर जनवादी चेतना सबसे पहले साहित्यकार में उत्पन्न होती है जो समष्टि चेतना से उभर आता है ।

शोषण की जड़ें शोषितों की अज्ञता पर खड़ी होती हैं । शोषित एवं पीड़ित जनता अपनी ताकत के बारे में अनभिज्ञ हैं । जनता को जब तक अपनी अपार शक्ति के संबंध में सही जानकारी नहीं मिलती, वह शोषण के प्रति अकर्मण्य एवं प्रश्नहीन रहेगी । क्योंकि जब तक एक गुलाम को गुलामी के बारे में जानकारी नहीं होती, तब तक वह खुद को गुलाम नहीं समझेगा अथवा गुलामी की चेतना ही एक गुलाम को मुक्तिकामी बनाती है । मतलब है कि अपनी अज्ञता के कारण पूरे जीवन में शोषण के शिकार बनने के लिए अभिशप्त आम लोगों को समष्टि चेतना की शक्ति एवं महत्ता से अवगत कराकर उन्हें प्रगतिशील एवं प्रतिक्रियाशील बनाने की ताकत जनवादी साहित्य में अवश्य रहती है ।

प्रमुख भारतीय भाषाओं के नुक्कड नाटकों में जनवादी चेतना

जनवादी चेतना को प्रस्तुत करने में नुक्कड नाटकों की अपनी एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है । इस शोध प्रबन्ध के दूसरे अध्याय में विश्व के विभिन्न देशों तथा भारत की विभिन्न भाषाओं में रचित नुक्कड नाटकों के इतिहास एवं नुक्कड नाटकों के सैद्धांतिक पक्ष को भी उजागर करने का प्रयास हुआ है । फिर भी इस अध्याय में प्रमुख भारतीय भाषाओं के नुक्कड नाट्यान्दोलनों पर नज़र डालना ज़रूरी है । इसलिए इस विषय के बारे में एक संक्षिप्त विवरण दिया जाता है ।

1940 में भारतीय जननाट्य संघ (IPTA) की स्थापना भारतीय जननाटकों के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी । 1940 से लेकर आज़ादी तक का समय इप्टा का उत्कर्ष काल था । लेकिन आज़ादी के बाद इप्टा के कई प्रवर्तक इप्टा को छोड कर अपने-अपने नए कार्यक्षेत्रों को चुनकर आगे बढे । यह भारत के विभिन्न प्रांतों में नई नई नाट्य मंडलियों के जन्म का कारण बन गया । कमलादेवी चट्टोपाध्याय इप्टा की एक अच्छी प्रवर्तका थी । उन्होंने आज़ादी के बाद इप्टा से अलग होकर "इंडियन नेशनल थियटर" नामक एक नई नाट्य संस्था को जन्म दिया । बाद में यह राष्ट्रीय स्तर पर विकसित होकर एक महान नाट्य संस्था बन गई । शंभु मित्र ने इप्टा से विदा लेकर कलकत्ता में अपनी नाट्य संस्था के ज़रिए टागोर के नाटकों के प्रदर्शन किए । शंभु मित्र के उस थियटर का नाम "बहुरूपी" था जिसकी स्थापना तो 1949 थी । उत्पलदत्त ने 1959 में "लिटिल थियटर की स्थापना की थी । लेकिन इप्टा से बिछुडे गए नाट्यकारों में सबसे प्रमुख हबीब तनवीर थे । नाटक के क्षेत्र में उनकी कई मौलिक देन है । उन्होंने सबसे पहले यथार्थवादी शैली में कई नाटकों का प्रदर्शन किया और बाद में वे परंपरागत लोक नाट्य शैली को अपनाने लगे । उनका "अगा बज़ार" सभी अर्थों में लोकधर्मी नाट्य शैली से जुडा हुआ एक नाटक है ।

भारतीय जन नाटक की इतिहास यात्रा के दौरान 1960 के आसपास एक नई नाट्य शैली मराठी, कन्नड, हिन्दी और बंगला के रंगमंच में आने लगी । मराठी में उस समय के प्रसिद्ध नाटककार थे विजय टेन्डुलकर जिन्होंने कई विवादास्पद नाटकों की रचना की थी । उनके नाटकों में "शकुम बिन्दर", "खासीराम कोतवाल", "शान्ता कोर्ट चालू आहे" आदि ज़्यादा चर्चित नाटक थे । कन्नड में गिरीश करनाड उस समय रंगमंच पर पधारे हुए । उन के नाटकों में "तुगलक", "हयवदन", "ययाती", "आट्टे काककुट्टु" आदि विशेष उल्लेखनीय है । बंगला में बदल सरकार का आगमन इसी समय में था । उनका "एवं इन्द्रजित" उन्नीस सौ साठों में सबसे आधुनिक नाटक कहा गया था । उनके प्रारंभिक नाटक उतना प्रभावमय नहीं थे । लेकिन 1967 में जब उन्होंने "शदाब्दी" थियटर को जन्म दिया तब से लेकर उन के नाटकों में नई राजनैतिक दृष्टि तोव्र होने लगी । "सोजी महते" (1969) और "स्पार्टकस" (1978) उनकी सबसे महान नाट्य रचनाएँ हैं । इन के अतिरिक्त "प्रस्ताव", "मुक्ति मेल", "भारतेर इतिहास" आदि अनेक जनपक्षीय नाटकों का सृजन भी उन के द्वारा हुआ था ।

जननाट्य मंच का आगमन 1973 में था । जन नाटक के क्षेत्र में सफदर हाश्मी और जननाट्य मंच ने अपने महत्वपूर्ण योगदान दिए हैं । सफदर हाश्मी और बादल सरकार की नाट्यगत अवधारणाएँ तथा उनके रंगकर्म, राजनीतिक प्रतिबद्धता रखनेवाले एक जनवादी रंगमंच के लिए रहे थे ।

1978-1980 के समय मुंबई के कपडे मिलों में श्रमिकों का एक विद्रोह चल रहा था । इस श्रमिक विद्रोह ने कई नुक्कड नाटक मंडलियों को जन्म दिया । "आह्वान" नाट्य मंच, और "समग्र आह्वान"

इन मंडलियों में सबसे प्रमुख थीं । आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु और बिहार में किसानों तथा खेतिहर मज़दूरों को एकत्रित करने के लिए वामपंथी, आतंकवादी आन्दोलनों ने नुक्कड नाटकों को इस्तेमाल किया है । तमिलनाडु में मदुरै के "निज नाटक ऐक्यम" नामक थियटर द्वारा "स्पार्टकस" खेला गया था । स्पार्टकस जैसे नाटकों के प्रदर्शन इस नई राजनीतिक चेतना के प्रतिफलन है ।

केरल में नुक्कड नाटकों का आरंभ सत्तरों के अंत में था । इस क्षेत्र में "जनकीय सांस्कारिक वेदी" का महत्वपूर्ण योगदान है । जनकीय सांस्कारिक वेदी द्वारा खेला गया के.जे.बेबी कृत "नाडु गद्दिका" तत्कालीन राजनीतिक सवालों को उठानेवाला एक नाटक था । मज़दूर वर्ग के आन्दोलनों को अगुआ बनी एक राजनीतिक पार्टी की नीति में आ गए दोषों की ओर उंगली उठानेवाला एक नाटक था "नाडु गद्दिका" पाँच सौ से अधिक स्थानों में प्रदर्शित यह नाटक केरल के सारे जनवादी नाटकों के आगे खडा होता है । बादल सरकार के "स्पार्टकस" नाटक भी केरल भर प्रदर्शित किया गया था । के.पी.ए.सी के युग के बाद केरल भर में ख्यातिप्राप्त नाट्य संस्था "केरल शास्त्र साहित्य परिषद" की थी । परिषद ने केरल की लोक कलाओं तथा प्रहसनों का मेल कराकर गाँव-गाँवों में अपने नाटकों का प्रदर्शन किया । जनता को विज्ञान के सत्यों से परिचित कराने तथा समाज से अंधविश्वास को दूर करने के लिए परिषद ने जो प्रयास किया है, वह प्रशंसनीय है ।

ज़ाहिर है कि जनवादी साहित्य का निकट संबंध समाज के उ त्पीड़ित वर्ग के साथ है । जनवादी साहित्य में शोषित एवं अधिकार से वंचित आम आदमी के जागरण एवं आज़ादी की कामना मौजूद है । मौजूदा व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए आम आदमी को एकजुट होना चाहिए । और वही स्वतंत्रता के लिए एक जनवादी तरीका है । ज़्यादातर

स्वातंत्र्योत्तर कालीन हिन्दी साहित्य में सामने आ गई जनवादी चेतना के पीछे मार्क्सवाद, गांधीवाद, विनोबा भावे के दर्शन, लोहिया के दर्शन, जयप्रकाश नारायण के विचार, विभिन्न प्रगतिशील आन्दोलन आदि का स्पष्ट प्रभाव है । एक सशक्त जनवादी कलामाध्यम होने के कारण जनवादी चेतना के प्रचार-प्रसार में नाटकों का, विशेषकर नुक्कड नाटकों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है । स्वातंत्र्योत्तर कालीन हिन्दी नाटकों में जन-शक्ति को ज़्यादा से ज़्यादा महत्व प्राप्त होने लगा । आज़ादी के पश्चात्, जनतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना भारत में हुई । फिर भी शासन व्यवस्था एवं जनविरोधी ताकतों से जनता को वास्तविक आज़ादी नहीं मिली । जनवादी साहित्य, उस वास्तविक आज़ादी प्राप्त करने के लिए जनता को जनवादी अधिकारों से परिचित कराना चाहता है । सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक शोषणों को बेडियों में फँसी जनता को जनवादी साहित्य ऐसा आह्वान करता है कि इन बेडियों को तोड डालने के लिए जनता को स्वयं एकत्रित होने के अलावा दूसरी कोई पगडंडी नहीं है ।

अध्याय : दो

हिन्दी नाटकों में जनवादी चेतना का विकासक्रम : एक ऐतिहासिक अध्ययन

पूर्व भारतेन्दु युग

विश्व नाटक के इतिहास में यवन नाटकों के समान, एक गरिमामयी नाट्य परंपरा भारत में थी । उस परंपरा का नाम है संस्कृत नाट्य परंपरा । लेकिन दसवीं शती के बाद भारतेन्दु के समय तक के अंतराल में यह भारतीय रंगमंच जड अवस्था में था । संस्कृत की वह नाट्यधर्मी परंपरा समाज से कटे हुए, सामन्त के विलास-वैभव का गुणानुवाद कर रही थी । भारतेन्दु ने उसे नवजागरण की बृहत्तर सामाजिक समस्याओं के साथ जोडा । परन्तु नाटक के इतिहास में यह जनोन्मुखता एक नई चीज़ नहीं थी । नाटकों के इस सामाजिक स्वरूप का मूल रूप हम विभिन्न भारतीय लोकनाट्य परंपराओं में देख सकते हैं । संस्कृत की नाट्यधर्मी (साहित्यिक) परंपरा के समानांतर साधारण जनता द्वारा पोषित लोकधर्मी नाट्य परंपरा अविच्छिन्न रूप में प्राकृत एवं अपभ्रंश के भाषा युगों से गुज़रती हुई विभिन्न देशी भाषाओं में अनेक नाट्य शैलियों के रूप में प्रकट होती हुई आज तक सतत बनी रहती है । जीवन को उस के प्रकृत रूप में ही प्रस्तुत करनेवाली लोकधर्मी नाट्य धारा में जन साधारण से सीधा संबंध, अनुकरण की स्वाभाविकता और सजीवता सरल रूप सज्जा आदि कई जनवादी नाट्य तत्वों का समावेश दृष्टिगत होता है ।

भारतीय चिंतन के अनुसार नाट्य कला की उत्पत्ति पंचम वेद के रूप में, आम जनता को भी आनन्दित और जागृत करने के लिए हुई है । लोक-जागरण का यह सशक्त माध्यम है । नाटक के इस जनवादी स्वरूप को पूरी तरह समझने के लिए भारतीय लोकनाट्य परंपराओं पर नज़र डालना ज़रूरी है ।

लोकधर्मी नाट्य परंपरा

लोकधर्मी नाट्य परंपरा जनता की अपनी है जिस में लोक जीवन को प्रकृत रूप प्रस्तुत किया जाता है । अभिनेताओं तथा दर्शकों के बीच की दूरी को न रखनेवाली भारतीय लोकधर्मी नाट्य परंपरा पूर्ण रूप से अपने सामाजिक स्वरूप को व्यक्त करती है । आज की जनवादी नाट्यधारा जिस रंग पद्धति को अपनाती हैं, वह लोकधर्मी नाट्य परंपरा की देन है । भाषा, वेश-भूषा, विषय और रंगमंच की दृष्टि से लोकनाट्य परंपरा अपने जनवादी स्वरूप को प्रस्तुत करती है ।

लोकनाटकों की भाषा जनता की भाषा है । भाषा का अभिजाती रूप लोकनाटकों में नहीं, बल्कि किसानों तथा मज़दूरों की मामूली भाषा होती है । जिस भाषा को अपनी रोज़मर्रा ज़िन्दगी में इस्तेमाल करते हैं वही उनकी कलाओं में आ जाती हैं । दरअसल उन की कला अपने उत्पादन कार्यों से जुड़ी रहती हैं ।

लोकनाटकों की वेश-भूषा में हम जनवादी स्वरूप देख सकते हैं । क्योंकि यहाँ प्रेसीनियम रंगनाटकों के समान उच्च वर्ग की वेश-भूषा नहीं । बल्कि इस समाज के साधारण से साधारण जनता की वेश-भूषा ही विद्यमान है । स्थान-विशेष की जनता की वेश-भूषा के मुताबिक विभिन्न प्रांतों के लोकनाटकों में वेशभूषा में अंतर होता है । मतलब यह है कि यहाँ खेलनेवालों और देखनेवालों में कोई फरक नहीं है । लोकनाटक में नाटक का यह जनवादी तत्व ज़्यादा पाया जाता है कि वह जनता के लिए जनता द्वारा जनता का अपना होता है ।

लोक नाटकों की विषय-वस्तु शायद किसी लोककथाएँ हो सकती है या किसी पुराण देवी देवता संबंधी या राजा की कहानियाँ । जो भी हो, विषय-वस्तु राजा-रानी देवी-देवता क्यों न हो, उनकी भाषा, संस्कृति, वेश-भूषा सब उस जनपद की अपनी होती है । कहने का तात्पर्य यह है कि लोकनाटकों द्वारा आम लोगों ने दरअसल अपने स्वत्व को ही सुरक्षित रखा है । अथवा सभी लोकनाटक आम लोगों की संस्कृति, विश्वास, भाषा और स्वत्व बोध को अभिव्यक्त करनेवाला एक सशक्त माध्यम है । लोक नाटक की यह अकृत्रिमता जनवादी नाटकों का प्राणतत्व है ।

हमारे लोकनाटकों में बहुत पहले से ही मुक्ताकाशी मंचन की परंपरा चल रही थी । जब भी लोक जीवन में सामाजिक उत्सव, आयोजन, पर्व आदि ने प्रवेश पाया होगा, तभी से लोक मानस में इन आयोजनों को आकाश के नीचे संपन्न करने का आदि हो चुका होगा । आदिकाल से ही खुले स्थानों खेत-खलिहानों, घर आँगन तथा चौपालों पर लोकनाटक खेला गया था । यह मुक्ताकाशी रंगमंच नाटक तथा दर्शक के बीच कोई बंटवारा नहीं करता है । इस लोकतंत्रात्मक रंगपरिकल्पना ही आज के जन नाटकों में अपनाई गई है ।

भरत मुनि ने लोकधर्मी नाट्य परंपराओं का समीकरण कर उनका समीचीन विवरण प्रस्तुत किया है । लोकधर्मी नाट्य रचनाएँ अपनी सरलता एवं अनगढता में ही लोक मानस में आनन्द का संचार करती है । जन साधारण की वस्तु होने के कारण इन में जनता का जीवन, उनकी सभ्यता, परंपरा, नैसर्गिक आह्लाद और विषादमयी प्रवृत्तियों के स्वाभाविक, सजीव एवं आस्थापूर्ण चित्रण सहज रूप से प्राप्त हो जाते हैं । डॉ. लक्ष्मीनारायण भारद्वाज ने कहा है कि "जीवन को प्रकृत रूप में अभिव्यंजित करनेवाली "नाट्य शैली" लोक धर्मी नाट्य की संज्ञा से अभिहित होती है । लोकधर्मी नाटकों में

लोक का शुद्ध और स्वाभाविक अनुकरण होता है । उस में विभिन्न भावों का संकेत करनेवाली वाचिक, आंगिक, सात्त्विक और आहार्य-विधियों का समावेश नहीं होता । यह नाट्य-परंपरा शास्त्रीय नाट्य-पद्धति से अनभिज्ञ और रंगमंच निर्माण की विभिन्न विधियों से अपरिचित भी है । फिर भी प्राचीन काल में भारतीय जनपदों की छाया में स्वतंत्र रूप से यह नाट्य परंपरा विकसित होती रही है ।'[1]

इस लौकिक परंपरा के प्रत्यक्ष उदाहरण, पतंजली द्वारा वर्णित "कंस वध" और "बालिवध" नामक नाटक हैं । हरिवंश पुराण में भी "राम-जन्म" और "रंभाभिसार" आदि नाटकों के अभिनीत होने का उल्लेख उन्हीं के व्यापक प्रचार-प्रसार का द्योतक है । वस्तुतः भारतीय लोकधर्मी नाट्य परंपरा अत्यंत विशाल एवं समृद्ध है । लोकधर्मी नाट्य शैली के व्यवस्थित रूप का उल्लेख, आद्याचार्य भरत के नाट्य शास्त्र में उपलब्ध होता है । विभिन्न जनपदीय बोलियों में रचित सम्प्रति नाट्य धारा का विपुल साहित्य उपलब्ध होता है । स्थिति-भेद एवं रुचि भेद के कारण देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के लोकनाट्यों की परंपरा मिलती है ।

आलोच्य धारा के नाटक दो प्रकार के होते हैं - §1§ लीला, शोभा यात्रा, मंदिरों और जुलूसों से संबद्ध होने के नाटक धार्मिक होते हैं । §2§ दूसरे प्रकार के लोकनाट्य हल्के-फुल्के हास्य-व्यंग्य प्रधान होते हैं । तथा धार्मिक कथा-प्रसंगों से सर्वथा असंपृक्त रहते हैं । इन नाटकों के दर्शकों का ध्यान कथा-संकेन्द्रित रहता है । जीवन के आबाध प्रवाह में घटित घटनाओं से प्रेरणा लेकर इस प्रकार के नाट्य-कलेवर को

---

1. डॉ. लक्ष्मीनारायण भारद्वाज - रंगमंच : लोकधर्मी-नाट्यधर्मी - पृ. 14

नाट्यकार व्यवस्थित प्रारूप प्रदान करते हैं । समाज में परिव्याप्त रीति-रिवाज़, दुर्व्यवस्था, असन्तोष, असमानता आदि पर कटु व्यंग्य प्रहार करते हुए अंत में गंभीर वातावरण को निर्मितकर नाटककार अपने विचार को प्रस्तुत करता है । इस प्रकार की नाट्य रचनाओं में कथा की एकसूत्रता होना आवश्यक नहीं । अभिनेता विषयांतर करने में सर्वथा मुक्त होता है । अपने अभिनय द्वारा वह दर्शकों को प्रभावित करने की दृष्टि से नकल आदि उतारने तथा गीतादि के बीच संवादों की संयोजना कर नाटक की प्रभविष्णुता को बनाए रखते हैं । "स्वांग", "नौटंकी", "भांड", "भगत" आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं ।

स्वांग, नौटंकी, भगत और भांड

लोकधर्मी नाटकों का जनसाधारण से सीधा संबंध होता है । इन नाटकों की रूपसज्जा भी अत्यधिक सरल और सीधी है । किसी भी स्थान पर अभिनेता दर्शकों के बीच ही उपस्थित होकर जन-मानस को रससिक्त करने के लिए आयोजन करते हैं । इन नाटकों का प्रारूप, नाट्य धर्मी (साहित्यिक) नाटकों-सा सुगठित नहीं होता किन्तु कथा में तीखे व्यंग्यों की संयोजना अवश्य रही है । अभिनेताओं की संख्या भी सामान्यत: तीन-चार ही रहती है । किसी भी प्रकार की दृश्यावली का विधान इस में नहीं होता । आवश्यक सामग्रि, अभिनेता अपने साथ ही मंच पर रख लेते हैं । लोकधर्मी नाट्यकारों को दर्शकों की अनुमान-शक्ति पर अत्यधिक विश्वास होता है ।

स्वांग

स्वांग हरियाणा और उत्तर प्रदेश का लोकनाट्य है । यह एक मौखिक नाट्य परंपरा थी । बाद में नाट्यधर्मी रचनाओं के प्रभाव के

फलस्वरूप लिखित स्वांगों की परंपरा भी आरंभ होने लगी । इसी प्रकार प्रारंभ में केवल गीत (पद्य) पर आधारित स्वांग शनैः शनैः गद्य का भी रूपधारण करने लगा । अपनी मंच व्यवस्था और वेश-भूषा ने भी स्वांग को जनसाधारण से सीधा संपर्क कराया । अर्थात् दर्शकों के बैठने की व्यवस्था, मंच के चारों ओर होती है और अभिनेताओं की वेश भूषा साधारण रहती है - धोती, घाघरा, अंगरखा और छडि । इसी सीमित परिधान के सहारे समाज में मौजूद सभी प्रकार के पात्रों तथा अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है । पट-परिवर्तन, दृश्य-परिवर्तन आदि की आवश्यकता स्वांग में नहीं रहती । संगीत के माध्यम से सभी प्रकार के वातावरण का निर्माण कर लिया जाता है । स्वांग की प्रमुख दो शैलियाँ हैं -"रोहतक" तथा "हाथरस" । रोहतक शैली में हरियाणी (बांगरू) भाषा तथा हाथरसी शैली में व्रज भाषा का प्राधान्य है ।

नौटंकी

नौटंकी पूर्वीप्रदेश में प्रचलित लोक नाट्य परंपरा है । स्वांग की सभी विशेषताएँ नौटंकी में पाई जाती हैं । वास्तव में पूर्वी प्रदेश में स्वांग को ही नौटंकी से अभिहित किया जाता है । "स्वांग" का "नौटंकी" नाम उस्ताद लक्ष्मण द्वारा ही प्रचरित हुआ है ।

भगत

भगत मुख्यतः व्रज क्षेत्र में प्रचलित है । भगत में विविध लीलाओं का विधान होता है । ऊँचे स्थान पर मंच बनाकर भगत के प्रदर्शन की व्यवस्था होती है । वेश-भूषा आदि स्वांग के ही समान है । भगत की मुख्यतः दो शैलियाँ उपलब्ध हैं । आगरा शैली और हाथरस शैली । हाथरस शैली की भगत में छोटी तान में चौबोलों का विधान होता है और आगरा शैली में लंबी तान के चौबोलों का विधान होता है ।

भांड

लोकधर्मी नाट्य शैली की नाट्यधारा भांड में नाट्यधर्मी के "भाण" के समान सिर्फ एक पात्र का विधान होता है जो क्या कहा, क्या आदि वाक्यों का प्रयोग करता हुआ नकल करता है । सामान्यत: इस का विषय प्रेम प्रधान हास्य है । भांड के लिए किसी विशेष मंच की अपेक्षा नहीं होती । भांड के प्रमुख अंग तो अभिनेता के हाव-भाव प्रदर्शन मात्र है ।

इन के अतिरिक्त हिन्दी में रासलीला नामक एक लोकधर्मी नाट्य परंपरा मौजूद थी । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाटक "चन्द्रावली" और वियोगी हरि कृत "छद्म योगिनी" रासलीला शैली के नाटक हैं । बंगाल की दो लोकधर्मी नाट्य परंपराएँ हैं - "यात्रा" और "कीर्तनियाँ" । "माच" माल्वा प्रदेश में प्रचलित एक लोकधर्मी नाटक है । "भवई" गुजराती की और "ख्याल" राजस्थानी की दो नाट्य परंपराएँ हैं । राजस्थान की यह ख्याल की विभिन्न शैलियाँ हैं, जैसे - शेखावटी शैली, बिकानेरी शैली, मेवाड़ी शैली और मारवाडी शैली । और ललित भांड, दशावतार, कठपुतलियाँ आदि लोकधर्मी नाट्य परंपराओं ने मराठी नाटक और रंगमंच के विकास में स्तुत्य योग दिया है ।

दक्षिण भारत के लोकनाटकों में तमिलनाडु के "तेरुकुत्त" का प्रमुख स्थान होता है । "यक्षगान", "वीथिनाटकम", "तोलबोम्मल" आदि कर्नाटक के प्रसिद्ध लोकनाटक हैं । केरल के लोकनाटकों में ऐवर नाटक, एष़ामतु कळि, कणियारकळि, काक्कारश्शि नाटकम, पोराट्टु नाटकम, मुडियेट्टु, कोतमुरियाट्टम, कूटियाट्टम, कृष्णनाट्टम, कळियाट्टम, चविट्टुनाटकम, आदि उल्लेखनीय हैं । इन नाट्यरूपों में "मुडियेट्टु" पूरी तरह एक लोकधर्मी नाट्यरूप है जिस में दानवेन्द्र दारिकन और काली के

बीच हुए घमासान युद्ध का वर्णन है । "कोतमूरियाट्टम" घर-घर जाकर खेले जानेवाला एक नाट्यरूप है और "पोराट्टु नाटकम" हँसी-मज़ाक पूर्ण शैली का नाटक है । केरल के ईसाई धर्मवालों के बीच प्रचलित एक नाटक है, "चविट्टु नाटकम" । भारत के अन्य प्रांतों के लोक नाटकों के समान केरल के नाटक भी सामाजिक एवं धार्मिक आचारों तथा अनुष्ठानों से प्रभावित है ।

संक्षेप में ऊपर कही गई इन नाट्य परंपराओं का कथानक क्षेत्र ग्रामीण अंचल होता है और इन में जन-जीवन के विभिन्न घटना-प्रसंगों का चयन कर वीरता, शौर्य, साहस, धार्मिकता, ढोंग, आडंबर आदि को प्रभावपूर्ण ढंग से उपस्थित किया जाता है । लोकधर्मी नाट्य परंपरा मुख्यत: धर्म-संकेन्द्रित रही है, फिर भी जनपदीय प्रभाव इन पर ज़रूर दिखाई देता है । लोकधर्मी नाट्य में जनता की आत्मा रहती है । और यह नाट्य परंपरा सदैव जन-सामान्य से संपृक्त रह कर उन्हें अपने साथ चलने के लिए प्रेरित करती है । यह नाट्य परंपरा पूरी तरह जनता की है । उधर जन सामान्य के बीच में नाटक उतर आता है । साथ ही साथ नाटक के बीच जन-सामान्य और उनके जीवन भी । इसलिए हम कह सकते हैं कि दर्शक और अभिनीत वस्तु के बीच के अन्तर को मिटानेवाली लोकधर्मी नाट्यधारा जनवादी नाट्य तत्वों का वाहक है । अथवा इस में यही तत्व अवश्य पाया जाता है कि नाटक, जनता का, जनता के बीच, जनता द्वारा किया जाता है ।

भारतेन्दु और प्रसाद युग : भारतीय स्वाधीनता संग्राम के परिदृश्य में नाटकों में अभिव्यक्त जनवादी चेतना

हिन्दी नाटकों का आरंभ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही स्वीकार किया जाना चाहिए । भारतेन्दु के समय से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक के समय, अथवा भारतीय स्वाधीनता संग्राम के समय के हिन्दी नाटकों

को पूर्ववर्ती नाटकों में समाहित किया गया है । यह काल खण्ड भारतेन्दु तथा प्रसाद युगों में प्रमुख रूप से विभाजित किया जा सकता है । इन दोनों युगों में रचित नाटकों में निहित वर्ग चेतना का अध्ययन करने से पूर्व, तत्कालीन परिस्थितियों पर ज़रा नज़र दौडाना फिज़ूल नहीं होगा ।

राजनीतिक परिवेश

1757 के प्लासी युद्ध के पश्चात् अंग्रेज़ी शासन का आधिपत्य संपूर्ण भारत पर होता चला गया । 1857 में उस के खिलाफ जो महा विद्रोह हुआ, भारतीय राजाओं और नवाबों की आपसी फूट के कारण उसे कुचलने में अंग्रेज़ सरकार पूरी तरह कामयाब हुई । क्रांतिकारियों को दमनपूर्वक कुचल दिया गया । और भारत सीधे अंग्रेज़ी शासन के अधीन आ गया । नई शासन व्यवस्था ने विद्रोही तत्वों का दमन किया और देशद्रोहियों को, जो सामान्यत: उच्चवर्ग ही होते थे, राय बहादुर, खान बहादुर आदि खिताब देकर पुरस्कृत किया । इन देशद्रोही चाटुकार लोगों की तरफ से, आज़ादी के समय तक अंग्रेज़ों को मददमिल रही थी । भारतेन्दु युग के नाट्यकारों ने ऐसे "रायसाहबों" की जम कर खिल्ली उठाई है । उस समय राजनीति के क्षितिज पर इंडियन नेशनल कॉंग्रेस का उदय सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना रही । विपिन चन्द्र पाल, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, लाजपतराय, तिलक जैसे नेताओं ने भारतीय जन-मानस में राजनीतिक चेतना जागृत करने में अविस्मरणीय भूमिकाएँ निभाईं । 1905 में बंग-विभाजन के बाद देश की जनता अंग्रेज़ों की गद्दारी से पूरी तरह परिचित हो गई । उसी "फूट डालो राज करो" नीति के तहत "मुस्लिम लीग" को स्थापना कराने में अंग्रेज़ सफल हो गए । फिर कांग्रेस में धीरे-धीरे एक संघर्षशील क्रांतिकारी वर्ग उभर आने लगे । लेकिन गाँधी के कॉंग्रेस में आगमन से इन गरम कार्रवाइयों को धक्का लग गया । इस तरह

कॉंग्रेस के भीतर दो दल - गरम और नरम बन गए । गाँधी के अहिंसात्मक आन्दोलन का प्रभाव जनता पर अधिक पडा और पूरा देश गाँधी की अगुवाई में एकत्रित हो गए । भारतेन्दु का समय भारतीय जन-मानस में इस प्रकार एक परिवर्तन काल था । भारतेन्दु के पश्चात् प्रसाद और तत्कालीन अन्य नाट्यकारों पर भी इस परिवर्तित विचारधारा का ज़्यादा प्रभाव दिखाई पडता है ।

आर्थिक परिवेश

अंग्रेज़ों के आगमन के साथ भारत में पूँजीवाद के लिए रास्ता खुल गया था । अपने साम्राज्य को मज़बूत करने के लिए उन्होंने ज़मीन को व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाकर सामन्ती व्यवस्था को और मज़बूत कर दिया । जिन लोगों ने देश के प्रति गद्दारी करके अंग्रेज़ों की मदद की थी, उन्हें बडी ज़मीनदारियाँ पुरस्कार के रूप में भेंट की गई । इस के फलस्वरूप ऐसा ज़मीन्दार वर्ग अस्तित्व में आया, जो पूरी तरह अंग्रेज़ भक्त हो गया था । इस से अंग्रेज़ों के लिए भारत को लूटना आसान हो गया । भूमि पर स्वामित्व बदल जाने से उत्पादनकर्ता-किसान व मज़दूर वर्ग की स्थिति भी बिलकुल बदल गई । अब भूमि के मालिकों और भूमिहीनों में स्पष्ट अंतर हो जाने से उन के बीच अंतर्विरोध बढने लगे । इस के अतिरिक्त अंग्रेज़ हमारे देश से कच्चा माल ले जाकर उसे तैयार माल के रूप में लाकर हमारे देश में बेचते थे । इस से यहाँ बेकारी बढ गई, भुखमरों की संख्या ऊपर उठ गई और देश में कई भयंकर अकाल पडे । फिर भी यहाँ क्रूर प्रशासन ने सरकारी कर तथा ऋणों की वसूली करना यथापूर्व स्थिति में ही बरकरार रखा । इन सब का प्रभाव तत्कालीन साहित्य में दिखाई पडने लगा ।

सामाजिक-धार्मिक परिवेश

भारतीय समाज जाति-भेद के कारण विश्रृंखलित हो चुका था । अनेक प्रकार के धार्मिक अंधविश्वासों की वजह से समाज बहुत सड़ी-गली हालत में था । इस बदहाली से मुक्ति पाने का रास्ता, अंग्रेज़ी शिक्षा ने भारतीय समाज के सामने खोल दिया था । इन अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों के खिलाफ आवाज़ उठाने की चेतना इसी शिक्षा से ही प्राप्त हो गई । इस समय भारत में सती प्रथा, कन्या वध, बाल विवाह, पर्दा प्रथा आदि कुरीतियों को धर्म के नाम पर जायज़ ठहराया गया था । ऐसी क्रूर प्रथाओं को मिटाने के लिए सर्वप्रथम श्री राजा राममोहन राय सामने आए, जिन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की । इस के बाद बहुत ही संस्थाएँ इन कार्यक्रमों को लेकर आगे बढ़ी । आर्य समाज के माध्यम से स्वामी दयानन्द ने वर्णाश्रम व्यवस्था को सही मानते हुए भी छुआछूत, शिक्षा में भेद-भाव तथा मूर्ति पूजा का खण्डन किया । इसी प्रकार रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिकल सोसाइटी ने समाज उत्थान के कार्य किए । इन संस्थाओं के प्रवर्तन की वजह से लोगों के मन में धर्म के प्रति जो कट्टर रूढ़िवादी मनोवृत्ति थी, कुछ ढीली हो गई । लोगों के मन धीरे-धीरे राष्ट्रीयता की तरफ मुड़ने लगे । जनता एकत्रित होकर राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने लगी । गाँधी ने एक तरफ राजनीतिक आन्दोलन की अगुआई की तो दूसरी तरफ, अछूतोद्धार, साम्प्रदायिक सद्भाव आदि को भी अपनी कार्यप्रणाली का अभिन्न अंग बना लिया । समाज के अति निम्न वर्ग को भी बल मिल गया और पहली बार उन्हें भी एहसास होने लगा कि वे भी इंसान हैं । इस उदारपूर्ण मानवतावादी नज़रिए का तत्कालीन साहित्य पर गहरा प्रभाव है । उस युग के प्रखर नाट्यकार जयशंकर प्रसाद ने तो गाँधी के सत्य और अहिंसा के प्रयोगों को बौद्ध दर्शन से जोड़कर भारतीय संस्कृति में छिपि हुई श्रेष्ठता का पुनर्स्थापन किया ।

भारतेन्दु तथा प्रसाद-युगीन हिन्दी नाटक, इन भारतीय परिवेशों की सहज परिणति है । तत्कालीन नाट्यकारों को एक तरफ जनता को अंग्रेज़ी शासन के खिलाफ लड़ने के लिए तैयार करना था तो दूसरी तरफ सामाजिक तथा धार्मिक अंधविश्वासों और अज्ञान से बचा कर प्रबुद्ध करना भी था । जनता में नई चेतना का संचार करने के लिए तत्कालीन नाट्यकारों ने खूब प्रयास किया था । और उस समय के कई नाटकों में हम इस जनोन्मुखी प्रवृत्ति देख सकते हैं ।

भारतेन्दुयुगीन नाटक और जनवादी चेतना

हिन्दी नाटकों का आरंभ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही स्वीकार किया जाना चाहिए । हिन्दी नाटकों में जनता का स्वर सबसे पहले भारतेन्दु युग में ही मिल सकता है । भारतेन्दु युगीन नाटक तत्कालीन भारत के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिवेशों की उपज है । भारतीय जनता इस समय अंग्रेज़ी शासन के खिलाफ आवाज़ उठाने लगी । अनेक सुधारवादी आन्दोलनों ने भारत भर समाज उत्थान का नारा लगाने लगे । अंग्रेज़ों की शोषण व्यवस्था से भारतीय समाज ठीक तरह परिचित होने लगा । इन राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिवेश में ही भारतेन्दु जन जागरण को लक्ष्य बनाकर भारतीय रंगमंच पर आ गए ।

भारतेन्दु के ठीक पहले का साहित्य समाज से कटा हुआ सामन्त वर्ग के विलास और वैभव का गुणानुवाद कर रहा था । अपने अल्पकालिक जीवन काल में उस काल की आवश्यकताओं के अनुरूप तत्कालीन साहित्य को भारतेन्दु ने नवजागरण को बृहत्तर सामाजिक समस्याओं के साथ जोड़ा । उन के मौलिक नाटकों में अतीत का गौरव गान भी है और युगानुरूप नई नाट्य-परंपरा की शुरूआत भी । भारतेन्दु युग के

सबसे प्रमुख नाट्यकार वे ही है । उन्होंने अंधेर नगरी, भारत दुर्दशा, भारत जननी, विषस्य विषमौषधम्, प्रेम जोगिनी, नील देवी, सत्य हरिश्चन्द्र, सती प्रताप जैसे नाटकों के ज़रिए देश की युवा पीढ़ी को ऐसा झकझोरा कि वे विदेशी शोषक शासन के खिलाफ एक पंक्ति में खड़े होते आगे बढ़ी । इस युग के अन्य नाट्यकारों - लाला श्रीनिवास दास, अम्बिकादत्त व्यास, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाकृष्णदास, राधा चरण गोस्वामी, गोपालराम गहमरी तथा खड्ग बहादुर मल्ल आदि ने भी भारतेन्दु के मार्ग का अनुरण करते हुए राजनीतिक तथा नैतिक विषयों पर नाट्य रचना की है ।

भारतेन्दु युगीन नाटकों में कहीं-कहीं ब्रिटिश राज के प्रति प्रशंसा के ब्याज से निन्दा की गई है अथवा व्यंग्य किया गया है कि इतने विशाल और शक्तिशाली राज्य में भी देश की हालत इतनी खराब कैसी है । वस्तुत: उस युग के नाट्य साहित्य की मूल भावना राष्ट्रव्यापी और समाज सुधारवादी रही । इस में तनिक भी शक नहीं है कि भारतेन्दु की नज़र जनवादी विचारों से प्रभावित है ।

संस्कृत नाट्य परंपरा के विपरीत भारतेन्दु युग के नाटककारों ने समाज की सामान्य समस्याओं का चित्रण करने, उन से छुटकारा पाने के लिए उकसाने का रास्ता चुना । एक तरफ वे ब्रिटिश शासन के दोहन के प्रति लोगों में आक्रोश पैदा कर रहे थे तो दूसरी तरफ अपने ही समाज में जमी हुई काई को साफ करने के लिए लोगों को उत्साहित कर रहे थे । विधवा विवाह, बाल विवाह, वृद्ध अथवा अनमेल विवाह, मद्यपान, वेश्यावृत्ति, जुआ खेलना, धार्मिक पाखण्ड, भाषा संबंधी विवाद जैसे उस समय की आम जनता से संबंधित विषयों को नाटकों में व्यापक स्थान मिला है । साथ ही साथ देश में विदेशी शासन की क्रूरता और आर्थिक शोषण की कहानी बार-बार बताकर उस के

विरुद्ध उठ खड़े होने का आह्वान भी कर रहे थे । इस युग के नाटककार देश की बदहाली की तरफ ध्यान देने लगे । वे समझ पा रहे थे कि देश की इस बदहाली का कारण परस्पर द्वेष, ऊँच-नीच का भेद-भाव और फूट हैं । वे यह भी जानते थे कि हमारे समाज की कमज़ोरियों का लाभ उठाकर ही विदेशी शासन इधर जमा हुआ है । इसलिए उनकी यही राय थी कि भारतीयों का पहला कर्तव्य तो इन दुर्बलताओं, कुरीतियों को दूर करना है तभी भारत इस आततायी शासन से छुटकारा पा सकेगा ।

साम्राज्यवाद विरोधी चेतना

जनवादी साहित्य का सबसे प्रथम लक्ष्य तो साम्राज्यवाद का विरोध करना है । हिन्दी साहित्य में यह साम्राज्यवादी विरोधी चेतना का आरंभ भारतेन्दु युग से हुआ । अंग्रेज़ों द्वारा भारत का जो आर्थिक दोहन किया जा रहा था उस का खुलकर विरोध किया गया । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस बात से बहुत दु:खी थे कि यहाँ का धन लूट-लूट कर विदेश पहुँचाया जा रहा था । "पै धन विदेश चलि जात, यहें अति ख्वारी" (भारत दुर्दशा - अंक 3) कब्रों तक से धन लूट लिया गया था । "धन को सेना ऐसो भागी कि कब्रों में भी न बचो, समुद्र के पार ही शरण मिली ।"(भारत दुर्दशा - अंक 3) इस आर्थिक शोषण को भारतेन्दु भारत का अपमान समझते थे । बेरोज़गारी से देश के युवकों को चिंता और असन्तोष से भी भारतेन्दु बेखबर नहीं थे । अंग्रेज़ों की आर्थिक नीति के कारण यहाँ के घरेलू उद्योग नष्ट हो गए थे, इसलिए देश में कई बार भयंकर अकाल भी पड़े थे । भारतेन्दु और अन्य नाट्यकारों ने उस समय इन बातों का मार्मिक चित्रण करके ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति विद्रोह की भावना को पैदा कर दिया ।

इस युग के नाट्यकारों की निगाहें सिर्फ विदेशी शासकों की लूट और अत्याचार पर ही नहीं थीं, भारतीय सामन्तों एवं धर्माचार्यों की वजह से देश की जो बदहाली हुई है, वह भी इन से छिपी नहीं थी । भारतीय राजा अपनी अंग्रेज़ी भक्ति के लिए कुख्यात थे । ये भारतीय जनता का शोषण करते और अंग्रेज़ों की चाटुकारिता भी करते थे । देश की कुव्यवस्था, अवाम का निकम्मापन, उन की गरीबी, अंधविश्वास और अज्ञान इस युग के नाटककारों के प्रमुख विषय हैं । इस प्रकार जनता में साम्राज्यवाद विरोधी चेतना को पैदा करने के लिए सबसे पहले उन्हें अपनी इन बेड़ियों से मुक्त करना ज़रूरी था । भारतेन्दु और अपने समकालीन नाट्यकारों की रचना पद्धति के मूल में जन जागरण की एक बलवत्ती इच्छा पाई जाती है । इसी अवसर पर उनकी रचना विधान के तह में एक जनवादी दृष्टिकोण ज़रूर देख सकते हैं ।

दर असल यही जनवादी दृष्टि केवल भारतेन्दु की रचनाओं में नज़र आती है और उस युग के अन्य रचनाकारों में यह बहुत ही कम मिल सकती है ।

व्यवस्था और आम आदमी

सरकारी अमलातंत्र का आतंक और भ्रष्टाचार जो आज अपने विकराल रूप धारण करके हमारे सामने मौजूद हैं, भारतेन्दु युग में ही प्रकट होने लगा था । "ग्राम पाठशाला" और "निकृष्ट नौकरी" (काशीनाथ खत्री) तथा "पुलिस" नाटक (पं. मूलचन्द) में अफसरों के कुव्यवहार का चित्रण हुआ है । इन नाटकों के पात्र अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद और नौकरशाही के प्रति सामाजिक को सचेत कर देते हैं । "निकृष्ट नौकरी" नाटक में अंग्रेज़ अफसरों द्वारा भारतीय कर्मचारियों के प्रति क्रूर व्यवहार को देखते हुए नौकरी को निकृष्ट पेशा बताया गया है ।

भ्रष्ट व्यवस्था के कारण आम जनता घुटन खाकर ही जी रही है । शासन यंत्र का संचालन करनेवाले लोग, सुख-सुविधाओं के साथ जी रहे हैं । "पुलिस" नाटक इन विसंगतियों पर प्रकाश डालता है । यह नाटक पुलिस की चोरों से मिली हुई भगत और निर्दोष-निरपराध लोगों को परेशान करना जैसे कृत्य उसके वर्ग चरित्र को उद्घाटित करते हैं । पुलीस के अमानवीय हथकंडे सौ साल पहले भी वही थे जो आज हैं । चोर आलसी राम कहता है, "थानेदार ने आते ही मुझे बुलाया था और कहा कि हम लोगों को समझते रहो और बेखटके अपना काम करो ।" इस तरह जनता के साथ गद्दारी करनेवालों की हिफाजत करनेवाला अफसर वर्ग जो उस युग में थे, अब भी मौजूद है ।

अमलातंत्र के दोहन और अत्याचारों को दृष्टि में रखकर कहा गया है कि राज्य करनेवाले वास्तव में हाकिम और चपरासी हैं । "भीतर स्वाहा और बाहर सादे । राज करहिं अमले और प्यादे ।" (अंधेर नगरी - अंक-5) डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं -"अंधेर नगरी के घासीराम और पाचक वाला चूरन बेचने के बहाने हाकिमों के दिगुणित कर लगाने, अमलों के घूस लेने, महाजनों के अत्यधिक लाभ उठाने, अंग्रेज़ों के सारे भारत को उदरस्थ कर जाने, पुलिस के अनियमित कार्य करने की जो चर्चा करते हैं, उस समय के अधिकारी और धनी वर्ग की मनोवृत्ति परिलक्षित होती है । इस तरह लूट-खसोट से आक्रांत राज्य में सामान्य जनता को क्या सुख प्राप्त हो सकता है ?"[1]

सामाजिक - धार्मिक कुरीतियों पर प्रहार

जनवादी नाटकों की एक प्रवृत्ति है, सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों पर प्रहार करना । हमारे देश का दुर्भाग्य रहा है कि यहाँ के

---

1. बच्चन सिंह - हिन्दी नाटक - पृ. 32

धर्मों ने जनता को साथ जोडने की अपेक्षा विश्रृंखलित कर दिया है । अन्य धर्मों की अपेक्षा हिन्दु धर्म अनेक मत-मतान्तरों में विभाजित हो चुका था, शैव-वैष्णव परस्पर संघर्ष करते रहे थे । जातियों की भरमार के कारण समाज में एकता की भावना का सदैव अभाव रहा है ।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कबीर जैसे महान संत कवि के पश्चात् जाति-धर्म-समाज संबंधी विषयों में एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण लगाकर समाज में सुधार लाने का प्रयास भारतेन्दु ने ही किया है । जातिगत भेद-भाव तथा धार्मिक अन्धेपन को दूर कर जन मानस को साफ कराने का खूब प्रयास उन की नाट्य रचनाओं में पाया जाता है । उन के "प्रेम जोगिनी" नामक अपूर्ण नाटक में बनारस के पंडों और धर्म के ठेकेदारों पर कडे प्रहार किए गए हैं । पंडे किस प्रकार भोली-भाली स्त्रियों को अपने जाल में फँसाते हैं और धर्म के नाम पर जनता का शोषण करते हैं, उस का भंडा फोड किया गया है । देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत "जय नरसिंह की" तथा राधाचरण गोस्वामी कृत "तन मन धन गोसाई जी के अर्पण" नाटक भी इस तरह के धार्मिक पाखण्डों को उजागर करते हैं ।

वर्ण-जाति व्यवस्था पर आधारित ऊँच-नीच के भेद-भाव का विरोध तत्कालीन नाटककारों ने किया था । ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन जैसे सुधारवादी आन्दोलनों का प्रभाव स्पष्ट रूप से नाटकों में देखा जा सकता है ।

तत्कालीन नाट्यकार अपने दायित्व का निर्वाह करते हुए आम लोगों को अस्पृश्यता, पाखंड आदि धार्मिक कुरीतियों तथा वेश्यागमन, द्यूत क्रीडा जैसी सामाजिक बुराइयों से सावधान कर रहे थे । उन्होंने

बाल विवाह की बुराइयों, दुष्परिणामों को अपने नाटकों का विषय बनाया । उस समय यह निश्चय ही एक क्रांतिकारी कदम था । तोताराम वकील कृत "विवाह विडंबन", राधाकृष्ण दास कृत "दुःखिनी बाला रूपक", काशीनाथ खत्री कृत "बाल विधवा संताप", देवदत्त मिश्र कृत "बालविवाह दूषक" इत्यादि अनेक नाटकों के माध्यम से लोगों को सावधान किया कि बालापन में विवाह मत कराएँ । डॉ. भानुदेव शुक्ल लिखते हैं, "भारतेन्दु युग क्रांतिकारी भावनाओं का युग था । पुरानी जर्जर व्यवस्था के खंडहर गिरा कर उसी भूमि पर नवीन व्यवस्था के प्रासाद खडा करने का प्रयास हो रहा था । इस प्रकार भारतेन्दु युग पुरातन व्यवस्था में आमूल क्रांति होकर नवचेतना एवं नवोन्मेष के प्रयास तथा नव व्यवस्था के स्थापन का युग है ।"[1]

निम्न वर्ग

जनवादी साहित्य समाज के पिछडे हुए वर्ग के उत्थान और प्रगति की कामना करता है । लाला श्रीनिवास दास कृत "रणधीर प्रेममोहिनी" नाटक में पाटन का राजकुमार, निम्न वर्ग (प्रजा) का प्रतिनिधि बनकर सूरत के महा राजा से जो कुछ कहता है उस में जागीरदारी सभ्यता के लिए नए क्रांतिकारी युग की चुनौति निहित है । -"जैसे आप के ऊँचे-ऊँचे महलों पर सूर्य की धूप पडती है, तैसे ही हमारी गरीब झोंपडी में सूर्य भगवान प्रकाश करते हैं, जैसे आप के कलशधार महलों पर घनघोर घटा जल बरसाती है, तैसे ही हमारी गरीब झोंपडी को भी अपनी अपार दया से सूखा नहीं रखती । हमारा - आप का सब संसारी हाल एक-सा है और तुम को यह झूठा झगडा छोड कर एक दिन अवश्य यहाँ से जाना पडेंगे, परन्तु आप के मुकुट यह अभिमान का तुर्रा और लगा है यह आप की बडाई है ।" डॉ. रामविलास

---

1. डॉ. भानुदेव शुक्ल - भारतेन्दु युगीन नाट्य साहित्य - पृ. 57

शर्मा कहते हैं, "यहाँ पर आधुनिक साहित्य में पहली बार एक व्यक्ति ने अपनी झोंपड़ी पर अभिमान प्रकट करते हुए अपने आप को मनुष्य होने के नाते राजा के बराबर कहा है । उस के राजसी अभिमान को अपनी साधारणता की भूमि से ललकारा है ।"[1] ऐसे समय में जबकि राजा का सामना होने पर ही सामान्य जन थरथराने लगते हैं, उपरोक्त संवाद निश्चय ही क्रांतिकारी जन चेतना का अप्रतिम उदाहरण है । निम्न वर्ग की यह चेतना आगे चलकर और विकसित होगी, इस की संभावनाएँ यहाँ स्पष्ट हो रही है । "सभी मानव प्रकृति की दृष्टि में एक हैं - क्या राजा, क्या रंक, इसलिए राजा को अभिमान नहीं करना चाहिए, तथा रंक में दीन-हीन भावना नहीं चाहिए " इस दृष्टिकोण को आगे चलकर प्रसाद युग में और बल मिला ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग क्रांतिकारी भावनाओं का युग था । इस शताब्दी में समाज सुधार के विभिन्न आन्दोलनों ने देश में प्रगति और चेतना का मंत्र फूँका, परन्तु भारतेन्दु ने विभिन्न सम्प्रदायों से अलग साहित्यिक मंत्र से जन जागृति का सन्देश दिया । इस युग के नाटककार अवाम के पक्षधर थे । समाज के निम्न वर्ग को भी उन्होंने स्थान दिया था । निम्न वर्ग को बराबरी का दर्जा दिलाने में मदद की और उसे सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों के विरुद्ध लड़ने के लिए उठ खड़ा होने की ताकत प्रदान की । इस नज़रिए से देखें तो हम कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में जनवादी नाटकों के लिए भारतेन्दु युगीन नाट्यकारों ने जो ज़मीन तैयार की थी वह अमूल्य है ।

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा - भारतेन्दु युग - पृ. 79

अंधेर नगरी

भारतेन्दु का सबसे महत्त्वपूर्ण नाटक "अंधेर नगरी" है । जन चेतना को उजागर करनेवाली नाट्य रचना के रूप में इसे स्वीकार किया जा सकता है । भारतेन्दु का यह प्रहसन तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति सशक्त प्रतिक्रिया रही । अंधेर नगरी में प्रशासनिक खोखलेपन का पर्दाफाश किया गया है । यहाँ कल्लू बनिया की दीवार गिरकर एक बकरी मर जाती है । बकरी का मृत्यु हेतु ढूँढकर न्याय व्यवस्था गिरी हुई दीवार से लेकर कोतवाल तक के सभी को अपराधी समझ लेती है । और अंत में कोतवाल का गला फाँसी के फंदे से छोटा होने के कारण दूसरे एक आदमी को फाँसी देने का फैसला लिया जाता है जिसका गर्दन फाँसी के फंदे की नाप से अनुकूल हो । इस प्रकार गोवर्धन दास को फांसी देने के लिए पकड लिया जाता है । न्याय व्यवस्था ने ऐसा फैसला इसलिए लिया है कि बकरी मारने के अपराध में किसी-न-किसी को सजा देना ज़रूरी है ।

यहाँ दो बातें स्पष्ट हैं, कि जो न्याय मांगता है उसे न्याय नहीं मिलता और जो कोई भी अपराध नहीं करता है वह मुजरिम ठहराया जाता है । गोवर्धन दास उसी सामान्य जनता का प्रतिनिधि है जिसके सामने उस फांसी का फंदा झूल रहा है जिस की नाप में कोई भी बदलाव संभव नहीं । आम आदमी की यही नियति है कि बिना किसी अपराध करके सजा को कुबूल करना ।

कानूनी व्यवस्था अचल चीज़ है और उस का संचालक पागल भी है तो स्थिति और ज़्यादा बिगड जाती है । उस व्यवस्था के सामने आदमी की वेदना, सहानुभूति, विनय आदि का कोई स्थान नहीं है । क्योंकि नीति की देवी की आँखों में पट्टी बान्धी गई है ।

"अन्धेर नगरी" में आम जनता की सुखभोगी मनोवृत्ति के दुष्परिणाम के बारे में भी संकेत किया गया है । एक देश की जनता में सुखभोग की आसक्ति देश में विपत्ति को आमंत्रित करती है । गोवर्धनदास सुख भोग को कामना में पश्चिम दिशा में जाकर के अन्धेर नगरी के स्वप्निल माहौल में फँस जाता है । वह उस की त्रासदी का कारण बनता है । आज भी हमारे देश के अधिकांश गोवर्धनदास याने हमारे युवालोग पश्चिम दिशा में यात्रा कर रहे हैं । विदेशी सोफ्ट ड्रिंगों, रोक संगीतों, राप नृत्यों के पीछे पड रहे हैं । वे लोग अन्धेर नगरी के गोवर्धन दास को तरह एक स्वप्निल संसार में मग्न है । आनेवाले दिनों में देश का संचालन करने की जिम्मेदारी इन लोगों के हाथों है । इसलिए यह स्पष्ट है कि यह सुखभोगी मनोवृत्ति "अंधेर नगरी" के गोवर्धनदास की त्रासदी को दुहराएगी ।

"अंधेर नगरी" यह भी व्यक्त करता है कि वैचारिक दीवालिएपन देश को खतरा पहुँचाएगा । यहाँ राजा स्वयं फासी चढने को तैयार होते हैं । यह एक प्रतीक है कि जब देश को संचालित करनेवाला, वैचारिक दीवालिएपन में पड जाता है तो वह संपूर्ण देश का नाश है ।

जाहिर है कि "अंधेर नगरी" जन चेतना को जागृत करने में सफल बन गया है । यह चिंतनहीन प्रशासन व्यवस्था में आम आदमी की त्रासदी को प्रकट करनेवाला एक प्रहसन है । इस को प्रासंगिकता अब भी नष्ट नहीं हुई है । क्योंकि आम आदमी की यह त्रासदी तब तक ज़ारी रहेगी जब तक इस दुनिया में चौपट राजाओं का प्रशासन हो ।

प्रसाद युग

प्रसाद युग भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का उत्कर्ष काल था । इस युग में राजनीतिक प्रक्रिया तीव्रतर होती जा रही थी । भारत में स्वदेशी आन्दोलन तथा अनेक प्रकार के समाज-सुधार कार्यक्रम चलाए जा रहे थे । ये कार्यक्रम भारतीय जन मानस में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाये । लोग नए सिरे से सोचने और कार्य करने लगे । ऐसे में नाट्य साहित्य में परंपरित मान्यताओं, आस्थाओं के स्थान पर नए मानव मूल्य स्थापित किए जा रहे थे । राष्ट्रीय चेतना के अभ्युदय के साथ सामाजिक धार्मिक तथा सांस्कृतिक चेतना भी परिवर्तित हो रही थी । प्रसाद के अतिरिक्त इस युग के नाट्यकारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, वृन्दावनलाल वर्मा, राधेश्याम कथावाचक, मिश्र बन्धु, हरिकृष्ण प्रेमी आदि प्रमुख हैं ।

इस युग के नाट्यकारों में जयशंकर प्रसाद ही प्रथम स्थानीय है । उन्होंने नाटकों को एक नई दिशा प्रदान की । प्रसादजी एक नाटककार होने की अपेक्षा एक भावना संपन्न कवि भी है । इसलिए उनके नाटकों में नाटकत्व की अपेक्षा काव्य भंगिमा ज़्यादा दृष्टिगत होती है । उन्होंने ऐतिहासिक कथ्य को एक नए परिप्रेक्ष्य में पेश किया, इंसानियत पर आधारित एक नए समाज के निर्माण की कल्पना की । चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, राज्यश्री, जनमेजय का नागयज्ञ आदि अपने नाटकों के माध्यम से जीवन के उच्च आदर्शों को स्थापित किया ।

प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों के नायक उच्चवर्गीय हैं । वे हमेशा उच्च मानव मूल्यों के लिए संघर्षरत भी होते हैं । उनके पात्रों में गाँधीवाद का स्पष्ट प्रभाव है । नायक पात्रों द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला

वह हृदय-परिवर्तन सिद्धांत, गाँधीवाद को देन है । इसलिए उनके नायक, वर्ग-संघर्ष की अपेक्षा वर्ग-सहयोग का रास्ता अपनाते हैं । इस तरह एक आदर्शवादी सामाजिक दृष्टिकोण प्रसाद नाटकों में मिलता है । यह एक हद तक जनवादी चिंतन के नज़दीक आता है ।

प्रसाद का "कामना" नाटक अपने अन्य नाटकों से कुछ भिन्न प्रकार का होता है । इस नाटक में ऐसा एक द्वीप है जहाँ के लोग प्यार और आपसी सहयोग के साथ रहते हैं । उस द्वीप में एक दिन विलास नामक एक व्यक्ति आकर अपने दुष्कृत्यों द्वारा द्वीप को अत्याचार, व्यभिचार, निर्लज्जता विलासिता आदि से भर देता है । अंत में पूरे द्वीपवासी एकजुट होकर विलास को द्वीप से भगाते हैं । ज़ाहिर है कि जनता के संघ-बोध और अत्याचारी वर्ग के खिलाफ जन चेतना का जागरण आदि मुद्दों को व्यक्त करनेवाले इस नाटक की रचना-प्रक्रिया के पीछे कार्यरत चेतना जनवादी चेतना के समीचीन है ।

शोषण के विरुद्ध चेतना

शोषण के विरुद्ध चेतना एक जनवादी प्रवृत्ति है । प्रसाद युगीन भारत में निम्न वर्ग में ही नहीं बुर्जुआ वर्ग में भी यह मनोवृत्ति देखी जा सकती है । भारत की पराधीनता ने बुर्जुआ वर्ग में एक प्रकार की जनवादी चेतना का संचार किया । क्योंकि वे भारत के निम्नवर्गों के शोषण करने के साथ ही विदेशी शासन के हाथों में शोषण के शिकार थे । अंग्रेज़ों की आर्थिक-व्यापारिक नीति के कारण देश की पूँजी बाहर चली जा रही थी । इस के खिलाफ जब आन्दोलन छिडा तो इसी बुर्जुआ वर्ग ने इस का नेतृत्व किया । यद्यपि इस वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका स्थाई नहीं होती है, तो भी तात्कालिक कारणों से उस में जनवादी तत्व मौजूद है । लेनिन अपने "ऐतिहासिक भौतिकवाद क्या है ?" में यों कहते हैं, "उत्पीडित जाति के हर बुर्जुआ राष्ट्रवाद में एक

आम जनवादी तत्व होता है जो उत्पीडन के खिलाफ निर्देशित होता है और हम इसी तत्व का निस्सन्देह समर्थन करते हैं ।" प्रसाद युगीन साहित्य में राष्ट्रीयता पर ज़्यादा ज़ोर देनेवाली रचनाओं में यही तत्व अंतर्निहित है । प्रसादजी के नाटकों में देश की पराधीनता और विदेशियों द्वारा किए जानेवाले शोषण के विरुद्ध जनता को जागृत करने का प्रयास हुआ है "राज्यश्री", "चन्द्रगुप्त", "स्कन्दगुप्त" जैसे नाटकों में अतीत के गौरव को भारत के पराधीन जनता के सामने प्रस्तुत करके जनता के मन में नई चेतना जगाने की कोशिश पाई जाती है ।

निम्न वर्ग में शोषण के विरुद्ध चेतना

प्रसाद युगीन कतिपय नाटकों में निम्न वर्गीय चेतना पर प्रकाश डाला गया है । राधेश्याम कथावाचक का "द्रौपती स्वयंवर", वृन्दावनलाल कृत "धीरे-धीरे", सेठ गोविन्ददास का नाटक "प्रकाश" आदि इस कोटि की रचनाएँ हैं ।

"द्रौपती स्वयंवर" नाटक में अमीरों द्वारा गरीबों का शोषण किए जाने के खिलाफ आवाज़ उठाई गई है । इस में सत्राजित नामक पात्र, गरीबों के मुँह से छीने हुए ग्रासों से मोटे बने मालदारों से पूछता है कि क्या तुम्हारा खुन, खुन और हम गरीबों का खुन पानी है ? सत्राजित का यह सवाल यहाँ की अंधी व्यवस्था के सामने हमेशा गूँजता रहता है । और प्रजा की गठी कमाई को, जैसे भी हो - राजकोष में हटप लेकर, स्वयं देवता समझते हुए और प्रजा को जानवर समझ कर सुखी जीवन बितानेवाले राजाओं एवं शासकों की अहंग्रस्तता पर भी सत्राजित अपने शब्द-बाण चलाता है । इस प्रकार नाटक में शासक एवं पूँजीपती वर्गों द्वारा समाज के निम्न वर्ग के शोषण का चित्र अंकित किया गया है ।

वृन्दावनलाल कृत "धीरे-धीरे" वर्ग संघर्ष की भूमिका तैयार करता है । नाटककार ने यहाँ ज़मीन्दार और जनता का संघर्ष एकदम नए मसले पर दिखाया है । काम के घंटों और बोनस को लेकर चलनेवाले संघर्ष का दृश्य इस नाटक में देख सकता है ।

आज का यह वर्ग-विभक्त समाज एकदम सहसा उत्पन्न नहीं है । इसके पीछे सदियों लंबा शोषण का इतिहास है । आज के अमीरों की संपत्ति पिछले युगों के श्रमिकों तथा किसानों की पसीने का फल है । पिछले युगों में आज के अमीरों के पूर्वजों ने गरीबों का शोषण करके इतनी ताकत हासिल कर दी है जिसके द्वारा आज भी शोषण का यंत्र चलता ही रहता है । दोहन के इस ऐतिहासिक तथ्य को अमल में लानेवाला नाटक है, सेठ गोविन्ददास कृत "प्रकाश" । नाटक में अंग्रेज़ों तथा भारत के ज़मीन्दारों के शोषण पर प्रकाश डाला गया है । नाटक के नायक प्रकाश के अनुसार ज़मीन्दारों की संपत्ति, सदियों से आज के ज़मीन्दारों के पूर्वजों द्वारा भोली-भाली आम जनता पर किए गए शोषण का फल है । नाटक में अजय सिंह नामक एक बड़ा ज़मीन्दार है जिन की शोखानी में हीरे का बटन, हीरे का स्टार, घड़ी में हीरे की डबल चेन, साफे में हीरे की कलगी आदि हैं और वे हमेशा अंग्रेज़ों को पार्टियाँ भी देते हैं । नाटक में प्रकाश कहता है कि इन सब के पीछे गरीबों का शोषण छिपा है । इस कोटि के नाटक उस युग में बहुत बड़ी संख्या में लिखे गए हैं जिनमें ज़मीन्दारों द्वारा आम जनता के शोषण की कथाएँ हैं ।

रामनरेश त्रिपाठी कृत जयन्त नामक सामाजिक नाटक में जनवादी स्वर अवश्य है । इस में जन-शक्ति को कदाचार से मुक्ति का रास्ता बताया गया है । यहाँ सेठ मनोहर लाल अपनी दमनकारी नीतियों द्वारा सामान्य जनता को पीड़ित करता है । जयन्त के नेतृत्व में युवा लोग

उनके खिलाफ संघर्ष चलाते हैं । आखिरकार सेठ का मन परिवर्तित होता है । विषय वस्तु के अनुसार यह एक आदर्शोन्मुखी नाटक है । फिर भी युवकों द्वारा संगठित होकर शोषण का विरोध किया जाना निम्न वर्ग की निरंतर विकसित होती हुई चेतना दर्शाता है ।

जाति प्रथा

जातिगत भेद-भाव विश्व की महान संस्कृति, भारतीय संस्कृति के मुख में लगा हुआ सबसे बडा कलंक है । इस कलंक को साफ करने के लिए अनेक महान व्यक्तियों ने प्रयत्न किया था । लेकिन यह कलंक इतनी ज़ोर से जमा हुआ है कि कई बार पोंछने पर भी वह साफ नहीं हुआ । प्रसाद युगीन कतिपय नाटकों में जाति-पांत की समस्या को उभारा गया । उस समय सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध लडनेवालों के तेवर तेज़ नहीं हुए थे । फिर भी उन में यह चेतना जागृत हो चुकी थी कि समाज में किसी भी तरह की असमानता प्राकृतिक न्याय के विरुद्ध है । उस युग में अछूतों सार्वजनिक कुँए से पानी भर न सकता था । मंदिरों में प्रवेश करना मना था । इसलिए उस समय यदि अछूतों को गले ही लगा लिया गया, उन के लिए मंदिर और कुँआ ही बनवा दिया तो भी ये क्रांतिकारी कदम माने जाते थे । इस तरह अछूतोद्धार लक्षित नाटकों की रचना इस युग में हुई थी । छविनाथ पाण्डेय के नाटक "समाज" में ऐसा ही दिखाया गया है । इस में ठाकुर निदान सिंह का हृदय परिवर्तन और मंदिर प्रतिष्ठापना के अवसर पर उसे अछूत के गले मिलता दिखाया गया है । कृष्णकुमार मुखोपाध्याय कृत "समाज चित्र", बलदेवप्रसाद का "समाज सेवक" आदि भी वर्ण-व्यवस्था और अस्पृश्यता की भावना पर चोट करते हैं । "समाज-सेवक" नाटक में एक रूढिवादी पिता से उनका प्रगतिशील पुत्र कह उठता है, "जिस ईश्वर ने तुम्हें बनाया, उसी ने उनको (अछूतों को) भी जन्म दिया है । फिर इस प्रकार का भेद भाव क्यों है ?"[1]

---

1. हिन्दी नाटक कोश - पृ. 580

हमारे समाज में मौजूद सामाजिक विषमता, अन्याय, शोषण, आदि का आधार अंधविश्वास है । "नियति" इन में सबसे मज़बूत शोषणकारी तत्व है । नियति के नाम पर यहाँ आबादी के एक छोटा-सा हिस्सा, देश की सारी सुख-सुविधाओं को भोगते हैं और उसी नियति के नाम पर यहाँ के गरीब और दलित जनता सारी विषमताओं को सहते हुए उन सुखभोगी वर्ग की सुखसुविधाओं के लिए काम कर रही है । सेठ गोविन्द दास कृत "प्रकाश" नाटक ने सामाजिक विषमता, अन्याय, शोषण आदि को ईश्वर प्रदत्त घोषित करनेवालों के सामने ईश्वर के अस्तित्व को ही चुनौती दी है । इस नाटक में दामोदर अपने पिता से कहता है, "पूजन क्या है ? व्यर्थ की वस्तु है, निरर्थक समय जाता है । ईश्वर ऐसा मूर्ख है कि उस का पूजन करने और नाम लेने से प्रसन्न हो जाए ?"[1] इस तरह धार्मिक अंधविश्वास एवं जाति-प्रथा पर चुनौती देनेवाली आवाज़, जो जनवादी साहित्य का मूल स्वर है, प्रसाद युगीन कतिपय नाटकों में सुनाई पडती है ।

नारी में जागरण

अछूतों के समान नारी भी समाज का एक पीडित वर्ग है । आज भी धर्म और समाज व्यवस्था नारी को बंदी बनाकर रखते हैं । पुरुष हमेशा स्वतंत्र है । पुरुष को अपनी मर्जी के मुताबिक कहीं भी जाने का अधिकार है । उसे अपनी मर्जी के कार्य करने के लिए किसी की भी इजाजत को ज़रूरत नहीं । उसे अपनी नारी को चुन लेने तथा तिरस्कृत करने का अधिकार है । लेकिन नारी जन्म लेने से लेकर वापिस चले जाने के समय तक कई प्रकार की बेडियों में बांधी है । उस को अपनी शादी में किसी तरह को आज़ादी नहीं है । उसे पुरुष के समान अपनी मर्जी के मुताबिक घूमने फिरने का अधिकार नहीं है । उसे अपने कपडे पहनने से लेकर, अपना खाना

---

1. सेठ गोविन्द दास - प्रकाश - पृ. 112

लेने से लेकर अपने विचारों तक को प्रस्तुत करने और ज़ोर से चिल्लाने, बातचीत करने तक का भी अधिकार अब भी बहुत दूर है । यहाँ के मजहब, संस्कृति और समाज ने नारी को वस्तुवत्कृत किया । वह पुरुष के लिए सिर्फ एक वस्तु बन गई । इसी लिए वर्तमान भारत के औसत पुरुष अपनी बीवी और पान में अन्तर देखने में असमर्थ है । आधुनिक कहलाई जानेवाली नारी भी अपने इस वस्तुवत्कृत स्वरूप से अपरिचित है । पुराने ज़माने में पुरुष-वर्चस्व धर्म और पुरुष-वर्चस्व समाज ने स्त्री को पुतली बनाया है तो आज इन दोनों के साथ संचार माध्यम भी शामिल हुए ।

भारत में उभर आए सुधारवादी आन्दोलन, नारी की इस बदहाली में थोडा-सा परिवर्तन ला सका । प्रसाद युगीन नाट्य रचनाओं में इस का प्रभाव दीख पडता है । उस समय, शताब्दियों से पर्दे के पीछे कैद नारी भी आज़ाद होने के लिए छटपटाने लगी थी । भारतीय नारी की मुक्ति के संदर्भ में राजा राम मोहनराय और दयानन्द सरस्वती के नाम उल्लेखनीय हैं । राजा राम मोहन राय द्वारा सती प्रथा और कन्या वध पर रोक लगवाए जाने और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्त्री-शिक्षा पर ज़ोर दिए जाने से नारी में जागृति की शुरूआत हो चुकी थी । प्रसाद युग में गाँधीजी का राजनीति में प्रवेश हुआ । उन्होंने नारी को घर की चहार दीवारियों से मुक्त कर राष्ट्रीय आन्दोलन से जोड दिया । इस तरह की घटनाओं के फलस्वरूप उस समय के कतिपय नाटकों में नारी के उस बदलते रूप को मंच में लाने का अवश्य प्रयास हुआ था ।

ऐसे नाटकों में प्रसादजी का "ध्रुवस्वामिनी" नाटक सबसे प्रमुख है । ध्रुवस्वामिनी पुरुष द्वारा नारी के साथ होनेवाले शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाती हैं । नाटक में राम गुप्त को शिखर स्वामी सलाह देता है

कि देश की हिफाजत करने के लिए ध्रुवस्वामिनी को शक राजा के पास भेज दिया जाए । तब क्रुद्ध होकर ध्रुवस्वामिनी ललकारती है -"पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अन्याय बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता । यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते ।"[1] धर्म-शास्त्रों की दुहाई देकर इस तरह के शोषण को शाश्वत बनाए रखने में सहायता देनेवाले उन पुरोहितों का भी वह खंडन करती हैं ।

प्रसाद युगीन नाटकों में दीख पडनेवाले ये नारी मुक्ति विचार बाद में अत्यधिक प्रबल होती गई । आज तो यहाँ नारी मुक्ति आन्दोलनों की एक बाढ ही होती है । लेकिन नारी जागरण और नारी की आज़ादी के प्रति इस तरह के अधिकांश आन्दोलनों की दृष्टि तथा साधारण नारी की असली समस्याओं के बीच अक्सर मेल नहीं दिखाई देता है । तात्पर्य यह है कि आज के अधिकांश नारी-मुक्ति आन्दोलन मध्यवर्गीय या उच्चवर्गीय नारियों के लिए अपने फैशन प्रदर्शन का एक हिस्सा मात्र है । इसलिए उनकी नज़र में अपनी ज़िन्दगी की लडाई लडनेवाली साधारण नारी के अस्तित्व की समस्याएँ नहीं आतीं ।

भारतेन्दु युगीन नाटकों में, विशेषकर भारतेन्दु के नाटकों में जनवादी चेतना जिस तीव्रता से उभरी है उतनी मात्रा में प्रसाद के नाटकों में या उन के समकालीन नाटककारों में न दीख पडती । केवल संकेत मात्र दिया गया है या छोटी झलक मात्र दी गई है । लेकिन तत्कालीन नाटकों में बदरीनाथ भट्ट के "चेन चरित्र अथवा राज परिवर्तन नाटक" का उल्लेख करना अनिवार्य है । क्योंकि इस में जन-शक्ति की विजय की कथा वर्णित है ।

---

1. ध्रुवस्वामिनी - पृ.26

इसे उस युग के क्रांतिकारी नाटकों की कोटि में रख सकते हैं । इस नाटक में अत्याचारी राजा को सत्ता से भ्रष्ट कर उन्हें फाँसी चढाया जाता है । यहाँ अत्याचारी राजा वेन के कुशासन के खिलाफ देश की जनता एकत्रित होती है । उस विद्रोह में भेद भूलकर ब्राह्मण-शूद्र सभी एकजुट होकर भाग लेते हैं । विद्रोह की विजय होने पर अत्याचारी वेन को जनता सूली चढातो है ।

फ्राँस में अत्याचारी राजा लुई चौदहवें को वहाँ की जनता ने राज्य क्रांति में फाँसी चढा । निश्चय ही इस नाटक के पीछे फ्रांस की राज्य क्रांति का प्रभाव है । इस नाटक का यही संदेश है कि एक देश में जन-शक्ति का अपना महत्वपूर्ण स्थान है । और देश में सुशासन लाने के लिए जनता का एकत्रित हो जाना अनिवार्य है । एक और उल्लेखनीय बात है कि इस नाटक में शासन तंत्र में परिवारवाद के विरुद्ध आवाज़ उठाई गई है । साथ ही साथ इस में लोकतांत्रिक व्यवस्था की ओर संकेत किया गया है । "अच्छा तो यह होगा कि हम सब मत से किसी को राजा बना दें । कुल-परंपरागत राज होना ही बुराई है ।"[1]

इस नाटक से यह सन्देश मिलता है कि जनवादी चेतना का इस युग में विकास शुरू हो गया था । फिर भी कुल मिलाकर देखने पर विदित हो जाएगा कि प्रसाद युग में जनवादी तेवर के नाटक कम ही मिलते हैं । भारतेन्दु के नाटकों में दीख पडनेवाली गहराई और विषय की तीव्रता प्रसाद युग में आकर कुछ फीकी पड गयी ।

---

1. बदरीनाथ भट्ट - भट्ट रचनावली - पृ. 68

प्रसादोत्तर युग

स्वातंत्र्योत्तर भारत की बदलती सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियाँ

सामाजिक परिवेश

आज़ादी प्राप्त होने के बाद, भारत के समस्त क्षेत्रों में कई प्रकार के परिवर्तन आने लगे । एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में धर्म द्वारा जितना प्रतिकूल प्रभाव डाला जा सकता है, उस की सारी संभावनाओं से भारतीय परिचित होने लगे । वह भारतीय समाज में ज़्यादा गंदगी फैलाने लगा । आज़ादी के बाद देश में प्रांतों की स्वायत्तता की मांग धर्म के आधार पर की जाने लगी । पंजाब में खलिस्थानवाद ने सिखों तथा हिन्दुओं का सदियों पुराना अंतरंग भाईचारे को तबाह कर दिया । "धर्म खतरे में है" के नाम पर अनेक संकीर्ण धार्मिक संगठन उभर आने लगे - हिन्दुओं के शिव सेना, बजरंगदल, इन्द्रप्रस्त विश्व हिन्दु परिषद, हिन्दू महा सभा, शिवशक्ति दल, सिखों के अकालिदल, खलिस्तान कमान्टो फोर्स, भिंडारवाल टाईगर्स फोर्स, खलिस्थान लिबरेशन फ्रंट तथा मुसलमानों के अल्लाह टाईगर्स, ज़िया टाईगर्स, जम्मू-कश्मीर लिबरेशन फ्रंट, हिज़बुल मुजाहुद्दीन आदि उग्रवादियों का उदय आज़ादी के बाद ही हुआ । धर्म पर राजनीति तथा पूँजीवाद का असर, व्यक्ति, समाज तथा सर्वोपरि संपूर्ण देश को विखंडित करने को उतारू है । कार्ल मार्क्स के इस कथन को कम से कम भारत के संदर्भ में शत-प्रतिशत सही मान सकते हैं कि "धर्म अफीम है ।" धर्म के नशे में सराबोर आदमी अपने सह-जीवियों को मनुष्य समझने से इंकार करता है । आज़ादी के पांच दशकों के बाद भी भारतीय समाज सामंतकालीन जातिभेद के अभिशाप से मुक्त नहीं ।

आज़ादी के बाद दलितों तथा पिछडे वर्गों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता आ गई, इस लिए देश के कई भागों में जाति-संघर्ष हुए हैं ।

बेलछी, अरवल, पिपरिया, जहानाबाद, कंझावला आदि अनेक स्थानों पर हुए जातीय संघर्ष तथा देश के कई भागों में हो रहे आरक्षण-विरोधी आन्दोलन विशेष उल्लेखनीय हैं । मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू किए जाने की घोषणा की प्रतिक्रिया स्वरूप जो आन्दोलन चलाया गया था उस के पीछे में भी हम जाति को देख चुके हैं । इस तरह आज़ादी के पश्चात् भी धर्म एवं जाति से संबंधित समस्याएँ बदलते परिवेश के मुताबिक बदले रूपों में उभर आईं ।

एक तरफ शिक्षा ने लोगों को अधिकार के प्रति जागरूक बनाया तो दूसरी तरफ शिक्षित बेरोज़गारों की शुमार दिन-ब-दिन बढती जा रही थी । इस से समाज में असन्तोष, कुंठा और भ्रष्टाचार बढने लगे । नौकरी मिलने के लिए रिश्वत देना और नौकरी मिलने के पश्चात् रिश्वत लेना यहाँ व्यावहारिक नीति का अभिन्न अंग बन चुका ।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में नारी-जगत दो ध्रुवों में विभक्त है । एक ओर नारी सर्वोच्च पद पर आसीन है तो दूसरी ओर वह मध्यकालीन रूढ़ियों से पीडित है । एक बार पुरी के शंकराचार्य, श्री निरंजनदेव तीर्थ के साथ श्री नीलांजन मुखोपाध्याय की बातचीत के दौरान आचार्य ने सती प्रथा को वेदानुमोदित मानकर उसका समर्थन किया था ।[1] आज भी महान भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग सती अनुष्ठान - भारत के कई इलाकों में प्रचलित है । रूप कनवार जैसे कितनी बेगुनाह नारियों को इस वैदिक पशुता का शिकार बनना पडा । इसी प्रकार साह बानो-प्रसंग मुस्लीम - समाज की विषमताओं को पेश करता है । उच्चतम न्यायालय में जीतने के बाद भी मजहबी कठमुल्लाओं तथा मौकापरस्तो राजनेताओं के हस्तक्षेप की वजह से यह पराजित हो चुकी ।

---

1. संचेतना, मई 1988 - शंकराचार्य से नीलांजन मुखोपाध्याय की बातचीत - पृ. 20

हम देख सकते हैं कि भारतीय समाज अनेक प्रकार की विडंबनाओं, अंधविश्वासों, रूढियों की सलाखों के पीछे तड़प रहा है । आज़ादी के बाद जो आशाएँ बलवती हुई थीं, वे सफल नहीं हो पाई । ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ हिन्दी नाट्यकारों की सजग नज़रों से ओझल नहीं रहीं । नाटक को एक सशक्त माध्यम मानते हुए उन्होंने दिग्भ्रष्ट समाज का मार्गदर्शन करने का भरसक प्रयास किया ।

स्वातंत्र्योत्तर भारत की आर्थिक परिस्थितियाँ

प्रसाद युग में नाटककारों का ध्यान, ज़्यादातर इतिहास की तरफ रहा था । लेकिन प्रसादोत्तर युग की सबसे बडी विशेषता यह थी कि नाटककारों का ध्यान इतिहास की तरफ अधिक न रम कर वर्तमान की ओर गया । वर्तमान ज़िन्दगी की दैनिक समस्याओं के साथ व्यवहार करने की वजह से उन्हें भारत की आर्थिक परिस्थितियों पर ज़्यादा ज़ोर देना पडा ।

आर्थिक दृष्टि से भारत में अर्ध-सामन्ती- अर्धपूँजीवादी व्यवस्था विद्यमान है । आज़ादी के बाद भी भारतीय समाज की आर्थिक संरचना में ज़्यादा परिवर्तन नहीं हुआ । कृषि के क्षेत्र में हरित क्रांति के बावजूद सभी नागरिकों की भूख मिटाने में यहाँ की व्यवस्था असमर्थ रही थी । बल्कि हरित क्रांति का लाभ उन उच्चवर्गीय ज़मीन्दारों को मिला जो पिछडे लोगों तथा मज़दूरों की खून चूसते रहे । हरित क्रांति और उत्पादन के पूँजीवादी संबंधों के तेज़ी से विकास के कारण देश में, खासकर पंजाब तथा आँध्र प्रदेश के गाँवों के भूस्वामियों तथा खेतिहर मज़दूरों के बीच अंतर्विरोध भी तेज़ी से उभर आए ।

नेहरू द्वारा भारत में लागू की गई मिश्रित अर्थव्यवस्था, पूँजीपतियों के लिए वरदान सिद्ध हुआ । इस अर्थव्यवस्था की यही खासियत है कि जिस में सरकारी एजेन्सियाँ एवं निजी एजेन्सियाँ एक साथ काम कर रही है । लेकिन जहाँ-जहाँ सरकारी एजेन्सियों का एकाधिकार नहीं है वहाँ उस के संचालक निजी संस्थाओं के लिए सुविधाएँ बनाते हैं । यह सरकार और जनता के साथ धोखा है । स्वातंत्र्योत्तर भारत में यह प्रक्रिया पूरे देश में चली जाती थी । सजग एवं प्रतिबद्ध कलाकारों ने इस अंतर्द्वन्द्व को जनता के सामने लाने का भरसक प्रयास किया था । स्वातंत्र्योत्तर जनवादी नाटकों में इस आर्थिक विडंबना के प्रति जनता की तरफ से उभर आनेवाले विरोध के स्वर को मुखरित करने का प्रयास भी नाटककारों ने किया था ।

1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना का आरंभ हुआ । लेकिन पंचवर्षीय योजनाओं के घोषित लक्ष्यों पर वे नहीं पहुँच सकीं । इसकी वजह तो यह थी कि योजनाओं का कार्यान्वयन उसी नौकरशाही द्वारा किया गया था जिस में गोरों का वह औपनिवेशिक चरित्र गायब नहीं था । ग्रामीण क्षेत्र में जीवन स्तर ज़्यादा से ज़्यादा शोचनीय बन गया । कृषि-भूमि पर स्वामित्व का प्रश्न भारतीय जन जीवन को आन्दोलित करने लगा । संवैधानिक दृष्टि से देश में ज़मीन्दारी समाप्त कर दी गई, बल्कि ज़मीन्दारों ने इस कानून से भी बचने का उपाय ढूँढ लिया है । सर्वोपरि स्वातंत्र्योत्तर भारत की अर्थव्यवस्था ने गरीबी, भुखमरी, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार एवं करोडों के विदेश-ऋण को प्रदान किया । स्वातंत्र्योत्तर कालीन हिन्दी नाटकों में इन सभी समस्याओं की चर्चा की गई ।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

आज़ादी के बाद की राजनीतिक परिस्थितियों ने हिन्दी नाटककारों को सर्वाधिक प्रभावित किया है । भारतीय संविधान के अनुसार

देश को प्रभुत्व संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य घोषित किया गया है तथा देश के सभी नागरिकों को स्वतंत्रता, समानता, न्याय तथा रोज़गार में समान अवसर प्रदान करने का वचन दिया है । लेकिन आम लोगों के लिए यह सब कागज़ातों पर सीमित विषय मात्र रह गया । आज़ादी के बाद केवल अंग्रेज़ों के स्थान पर भारत के राजनेता आ गए । व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं लाया गया । राजनीतिक दलों का एकमात्र लक्ष्य सत्ता हासिल करना रहा । इसलिए वे प्रत्येक समय पर अधिकतम वोट मिलने लायक नारे को लेकर नागरिकों के साथ धोखा करने लगे । सत्ता प्राप्त करने के बाद ये राजनेता जनता को भूले । जनता को - देश की - प्रगति के लिए उन्होंने कुछ भी नहीं किया । राजनीति की इस बदहाली से दुखी होकर लोकनायक जयप्रकाश नारायण जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने इस के विरोध में जनता को एकत्रित करने का प्रयास किया था । इस तरह उभरे विरोधी तरंगों ने मुख्य रूप से जन चेतना को जगाने का कार्य किया था । यह राजनीतिक परिवेश जनवादी साहित्य के विकास में गतिवर्धन लाया । स्वातंत्र्योत्तर काल के, खास कर साठोत्तरी युग के नाटकों में जनवादी स्वर अत्यंत मुखरित हो आया ।

बदलते परिवेश और नाटककार की प्रतिक्रिया

प्रसादोत्तर काल में प्रधान रूप से समस्या नाटकों का दौर था । इस में लक्ष्मीनारायण मिश्र और उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटक विशेष उल्लेखनीय है । समाज की विविध समस्याओं का चित्रण करके उन का हल करने के लिए जन-रुचि उभारने का प्रयास उन्होंने किया है । समाज में मौजूद सांप्रदायिक द्वेष, शोषण, नारी शोषण, दहेज प्रथा आदि की ओर नाटककारों ने विशेष ध्यान दिया । लेकिन ऐसे नाटकों में जन चेतना को एकत्रित करने या उसका विकास करने का प्रयास नहीं देख सकते ।

फिर भी इस समय के कुछ नाटकों में कहीं न कहीं सामाजिक उत्पीडन, गरीबी, मज़दूरों का शोषण, अकाल, समाज के उपेक्षितों की ज़िन्दगी आदि पर नज़र डालने का प्रयास हुआ है । ऐसे नाटकों में सेठ गोविन्ददास के नाटक "सेवापथ", और "गरीबी और अमीरी", वृन्दावनलाल वर्मा कृत "धीरे-धीरे", राधेश्याम कथावाचक का "महर्षि वात्मीकी", हरिकृष्ण प्रेमी का "बन्धन" आदि उल्लेखनीय हैं । इन नाटकों में मज़दूरों तथा समाज के उपेक्षित वर्गों की दयनीय ज़िन्दगी को खींच दिखाने का प्रयास हुआ है । लेकिन ये प्रयास जनवादी तत्वों की तरफ नहीं विकसित हो जाते हैं ।

फिर प्रसादोत्तर युग में जन शक्ति पर ज़्यादा ज़ोर देनेवाली प्रवृत्ति जगदीश चन्द्रमाथुर के नाटक "कोणार्क" के साथ हुई । इस नाटक का प्रकाशन 1951 में था । कोणार्क में इतिहास की जो सहायता अपनाई गई है वह बहुत कम मात्रा में है । बस इतना कि राजा नरसिंह देव ने कोणार्क का मंदिर बनवाया । नरसिंह देव के प्रवास-काल में मंत्री राजराज का शक्तिशाली होना और कोणार्क के विध्वंस का कारण बनना भी इतिहास सम्मत है । लेकिन उस इतिहास के भीतर नाटककार ने विशु और धर्मपद नामक दो शिल्पियों को जोडकर कथा को ज़्यादा संवेदनशील बनाया । इस नाटक में तीन प्रकार के संघर्षों के दृश्य होते हैं - नई पीढी और पुरानी पीढ़ी का संघर्ष, सर्जना और विध्वंस का संघर्ष, तथा राज-सत्ता और जन-सत्ता का संघर्ष । जनता की शक्ति को घोषित करनेवाले कई दृश्य इस में हैं । विशु का पुत्र धर्मपद नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है । जब राजराज का दूत शैवालिक आकर राजा नरसिंह देव से आत्मसमर्पण करने को कहता है तो शिल्पि विशु उस अनाचार पर सवाल उठाता है । तब शैवालिक उस से बताता है कि शिल्पि लोग केवल नौकर हैं । कल नरसिंह देव के नौकर थे

और आज राजराज चालुक्य के नौकर हैं, शासन की बागडोर चाहे जिसके हाथ में हो, कलाकार को सिर्फ अपनी कला-साधना करनी है । इस प्रसंग में धर्मपद कह उठता है, "क्या हम लोग भेड बकरियाँ हैं, चाहे जिसके हवाले कर दी जाएँ ? जिस सिंहासन को तुम आज डॉवाडोल कर रहे हो, वह हमारे ही तो कंधों पर टिका है ।"[1] इस का तात्पर्य यह है कि सिंहासन पर जिन को बिठाना है उसका फैसला देश की जनता ले लेगी । यहाँ घोषित किया जाता है कि एक देश माने अंततःउस देश की जनता ही है । पूरी ताकत उसी जनता के हाथों में रहती है । इस नाटक में राजसत्ता पर जनसत्ता की जीत का ऐलान किया जाता है । नाटक में शिल्पि लोग अपनी पूरी ताकत लगाकर षड्यंत्रकारियों को तबाहने और देश की हिफ़ाजत करने के लिए राजा नरसिंह देव की मदद करते हैं ।

ज़ाहिर है कि माथुर ने कोणार्क नाटक की रचना करते हुए ऐसा वातावरण उपस्थित किया जिस में शिल्पियों एवं मज़दूरों याने सर्वहारा वर्ग के जीवन की आशा-आकांक्षा और संघर्ष पर चित्रण किया है । अपार जन-शक्ति को उद्बुद्ध करने में कला और कलाकार के दायित्व की ओर माथुर ने इस नाटक में संकेत किया है । साम्राज्यवाद एवं सामन्तवाद के ज़ोर-जुल्म के खिलाफ कलाकार का विद्रोह भी उभर आता है । कला के जन कल्याणकारी पक्ष को तरजीह देनेवाले नाटककार की प्रगतिशील चेतना, नाटक के पात्र शिल्पि धर्मपद के माध्यम से प्रस्तुत हो जाती है ।

इस तरह आज़ादी के बाद सबसे पहले "कोणार्क" में जनता की आवाज़ सुनाई पडी । आज़ादी के साथ जो नई व्यवस्था - जनतंत्रात्मक व्यवस्था - की स्थापना हुई इसी की वजह से देश की जनता अपनी शक्ति के

1.

बारे में सोचने और परिचित होने लगी । कोणार्क में सिर्फ उस प्रवृत्ति की एक शुरूआत है । बाद में जब भारतीय जनता, जनतंत्रात्मक व्यवस्था से ज़्यादा परिचित होने लगे तो बदलते परिवेश के अनुसार प्रतिक्रियाएँ भी बदलने लगीं । ये सारी प्रतिक्रियाएँ साहित्य में भी विद्यमान होने लगी थीं ।

साठोत्तरी युग

जनवादी तेवर के प्रमुख नाटक

जगदीशचन्द्र माथुर के बाद, साठोत्तरी युग में जनवादी चेतना को उजागर करनेवाले कई सशक्त नाटकों की रचना हुई । इस समय लक्ष्मीनारायण लाल, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, लक्ष्मीकांत वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, नरेन्द्र मोहन, मुद्रा राक्षस, शंकर शेष, भीष्म साहनी, शरद जोशी, सुशील कुमार सिंह, व्रजमोहन शाह, सुरेन्द्र वर्मा, मणि मधुकर, रमेश उपाध्याय, गिरिराज किशोर, स्वदेश दीपक आदि कई नाटककारों का आगमन हुआ जिन्होंने हिन्दी नाटक को आम जनता के ज़्यादा निकट ले जाने का कार्य किया है ।

साठोत्तरी युग में रचित नाटकों में गिरिराज किशोर का "प्रजा ही रहने दो" एक ऐसा महत्वपूर्ण नाटक है जिस में सत्ताधारी वर्ग का जुआ खेल एवं सामान्य जनता की विफल एवं दयनीय कराह की कथा है । यह महाभारत के संदर्भ में रचित नाटक है । जुआ खेल, द्रौपती का चीर हरण एवं भारत युद्ध - इन तीनों प्रसंगों को लेकर उन में आधुनिकता का रंग भरा दिया गया है । दरअसल पूरे नाटक में जनता मौन है । लेकिन उस मौन के माध्यम से आम जनता की दयनीय स्थिति को उजागर करने में नाटककार सफल निकला है ।

चुनाव के खोखलेपन पर नाटककार तीखा व्यंग्य करता है । चुनाव के समय राजनेता कई प्रकार की घोषणाएँ करते हैं । सत्तालिप्सा में सराबोर नेता किसी भी प्रकार ज़्यादा से ज़्यादा वोट इकट्ठा करने के लिए कई प्रकार के खेल खेलते हैं । इस खेल में जनता मूर्ख बनकर रह जाती हैं । "प्रजा ही रहने दो" में पांडवों और कौरवों के बीच जो खेल है उसे आज के चुनाव से तुलना करते हुए चुनाव के खोखलेपन का पर्दाफाश करने का प्रयास होता है । इस नाटक में जुआ खेल को राष्ट्रीय क्रीडा घोषित करते हुए देश के पूरे नागरिकों को इस खेल में शामिल करने को आदेश दिया जाता है । देश के आम लोगों को इस क्रीडा से कोई लाभ नहीं है । लाभ तो केवल उन शासकों के लिए है जो सत्ता को हमेशा अपने हाथों या परिवारवालों में नियंत्रित रखने के लिए उत्सुक है ।

धृतराष्ट्र जैसे अंधे शासक और दृष्टि होने पर भी अपनी पूरी ज़िन्दगी में अंधेपन का व्रत निभाने वाली गांधारी के शासन तंत्र में प्रजा की असली एवं बुनियादी समस्यायें अनदेखा कर दी जायेगी । एक तरफ राजमहल के अंदर खेल जारी है और दूसरी ओर देश भर की जनता कराह रही है । एक प्रसंग में दो प्रहरियों के बीच बातचीत होती है -

"तीसरा प्रहरी : कई बार लोग राजमहल के आसपास रोया करते हैं ।

पहला प्रहरी : तुम उनका रोना सुनते हो ? आँखों पर पट्टी बाँध लो । कानों में रुई ठूँस लो । बाहर से आनेवाला कोई स्वर मत सुनो ।"[1]

ज़ाहिर है कि सत्ता के सामने आम जनता का कोई स्थान नहीं है । शासक वर्ग को प्रजा के साथ कोई रिश्ता नहीं है । इस नाटक में

---

1. गिरिराज किशोर - प्रजा ही रहने दो - पृ. 20

एक नागरिक कहता है, "सब सिंहासन पर बैठे हैं । उन के पैरों और धर्ती के बीच पाद-पीठ है ।"[1] शासक के लिए जनता की पीडा की कोई परवाह नहीं । केवल सत्ता ही सर्वस्व है ।

युद्ध और उस के परिणाम के बारे में भी नाटक में उल्लेख हुआ है । युद्ध केवल शासकों के अधिकार को बरकरार रखने के लिए लडा जाता है, और न कोई युद्ध, देश की तरक्की या जनता को हिफाजत के लिए लडा जाता है । इस नाटक में पाण्डवों और कौरवों को पारिवारिक प्रतिस्पर्धा की वजह से देश के पूरे बेकसूर लोगों को महायुद्ध की विभीषिकाओं से जूझना पडता है । नाटक में इस का चित्रण घायल प्रहरियों के माध्यम से किया गया है ।

"दूसरा घायल प्रहरी : जो बचे हैं, अपाहिज हैं या बच्चे हैं ।

पहला घायल प्रहरी : बच्चों को बडे होने में सालों लग जाएँगे और बचे हुए अपाहिज जीने के संघर्ष में मर जाएँगे ।

दूसरा घायल प्रहरी : लडाइयों में हम इसी तरह मरते रहेंगे, हमारे बच्चे अनाथ होते रहेंगे... घर बरबाद होते रहेंगे ।

पहला घायल प्रहरी : बचना तो केवल राजा का अधिकार है ।

दूसरा घायल प्रहरी : तलवार और राजा पर्याय होते हैं ।"[2]

इस तरह हार हो या जीत, युद्ध का अंतिम परिणाम प्रजा की ज़िन्दगी का अपाहिज होना है ।

शासक वर्ग को अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए एक युद्ध की अनिवार्यता महसूस होती है तो युद्ध को किसी भी संभावनाओं को वह इनकार नहीं करेगा । क्योंकि जनसामान्य को वश में करने के लिए सबसे

---

1. गिरिराज किशोर - प्रजा ही रहने दो - पृ. 52
2. वही - पृ. 96

उपयोगी चीज़ है युद्ध । कार्गिल युद्ध काण्ड को हम सब देख चुके हैं । देश की सरकार और अन्य फासिस्ट ताकतों ने पाक-विरोध को प्रचार करके एक तरह के झूठे देशप्रेम को प्रोत्साहन देने के लिए खूब प्रयास किया था । दरअसल दोनों देश की सामान्य जनता युद्ध नहीं चाहती है । लेकिन सत्तालोलुप राजनेताओं के देश प्रेम संबंधी झूठे नारों की ओर लोग आकृष्ट हो जाते हैं, दूसरे धर्मावलंबियों का कत्ल करना ही सबसे बडी उपासना समझनेवाले या सिखानेवाले धर्मांध धर्माचार्यों के उपदेशों में लोग फंस जाते हैं ।

'प्रजा ही रहने दो' नाटक में, बीच-बीच में आनेवाले प्रहरियों और नागरिकों की बातचीत के माध्यम से आम आदमी की नारकीय ज़िन्दगी की तरफ झांकने का प्रयास हुआ है । व्यवस्था बनानेवाले अपने-अपने तरीके से व्यवस्था बनाते हैं, अपने-अपने तरीके से उस में परिवर्तन भी लेते हैं, लेकिन जो आदमी व्यवस्था के पहिए के नीचे दब जाता है, पिस जाता है, उस को व्यवस्था के बारे में अपना मत व्यक्त करने का कोई अधिकार नहीं है । यहाँ कवि धूमिल की पंक्तियाँ याद आती हैं :

'लोहे का स्वाद
लुहार से मत पूछो,
उस घोडे से पूछो
जिस के मुँह में लगाम है ।'[1]

जन चेतना को प्रमुखता देनेवाले साठोत्तरी नाटकों में श्री लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों का विशेष स्थान है । आप ने अपने नाटकों में धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक शोषण के विरोध में जन-चेतना को जागृत करने का प्रयास किया है । उन का 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक ऐसा एक

---

1. धूमिल - अंतिम कविता (अस्मिता - काव्य संकलन) - सं. जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव एवं जितेन्द्रनाथ पाठक

सशक्त नाटक है जिस में राजनीतिक एवं धार्मिक शोषण के ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक संबंधों पर प्रकाश डाला गया है । इस की समस्या तो सदियों से सत्ताधारी वर्ग का समर्थन करनेवाली हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा को आम जनता की कसौटी पर परख कर उस कथा में मौजूद शोषण के तरकीबों का पर्दाफाश करने को है ।

सत्य हरिश्चन्द्र की कथा, दान-धर्म और वचन पालन को महिमा का वर्णन करती हुई सदियों से व्यवस्था के शोषणकारी तत्वों को सुदृढ करती आ रही है, साथ ही धर्म भीरू जनता को शोषण के खिलाफ आवाज़ बंद करके स्वर्ग की प्राप्ति के लिए सब कुछ सहने का मार्गदर्शन कर रही है । लेकिन लाल ने अपने नाटक में उस धर्म-भीरू हरिश्चन्द्र को क्रांतिकारी हरिश्चन्द्र बना लिया है । यहाँ एक पण्डित अपने श्रोताओं को राजा सत्य हरिश्चन्द्र की कथा सुनाता है । इन्द्र और विश्वामित्र द्वारा हरिश्चन्द्र के सत्य की परीक्षा ली जाती है । सत्य के लिए हरिश्चन्द्र बिना कोई प्रतिशोध के सबकुछ सहता है । यह कथा सुनकर लौका नामक एक पात्र कह उठता है कि सत्य के लिए सारे के सारे अत्याचारों को सहनेवाले सत्य हरिश्चन्द्र की यह कथा सरासर झूठ है । और जब लौका सत्य हरिश्चन्द्र की असली कथा का नाटक प्रदर्शित करने का वादा करता है तो उसे ब्राह्मणों की तरफ से विरोध भोगना पडता है । अंत में लौका अपने नाटक को प्रदर्शित करने में सफल हो जाता है ।

नाटक में सत्यवादी हरिश्चन्द्र की प्रतिक्रिया विहीनता को मूर्खता ठहरा गया है । रोहित नामक एक पात्र यों कहता है, "मेरे लिए वह सत्य झूठ है जिसके लिए जीवन भर केवल विपत्तियाँ झेलनी पडे । त्याग और बलिदान को सूली पर चढकर सत्य की परीक्षा देनी पडे । मेरे लिए सत्य वही है जो सहज ही जीवन में जिया जा सके । जो जिया जा न सके,

वह झूठ है । वह धोखा है ।"[1] नाटक में हरिश्चन्द्र आम आदमी का प्रतिनिधित्व करता है, इन्द्र यहाँ के शासक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है और विश्वामित्र धर्म का भी । इस तरह लाल ने बहुत कुशलता के साथ उस पौराणिक कथा में आधुनिकता का रंग भर दिया । आज भी इन्द्र और विश्वामित्र द्वारा हरिश्चन्द्र प्रताडित किया जा रहा है । नाटक में जीतन कहता है, "हम सब हरिश्चन्द्र हैं, तुम्हारी सत्ताधारी राजनीति में । वहाँ राजा इन्द्र एक था, यहाँ राजा इन्द्र असंख्य हैं - पुलिस, अफसर, नेता, पूँजीपति, दलाल, गुंडा.... यही है तुम्हारी राजनीति । वह अंधकार ।"[2]

नाटक में लौका की अगुवाई में नीच जातवाले जागृत हो उठते हैं । लौका सत्यनारायण की असली कहानी सुनाने का वादा करता है और ब्राह्मण लोग हरिजनों के साथ दंगा-फ्साद शुरू करते हैं ताकि लौका से सत्यनारायण का नाटक नहीं खेला जा सके । लौका अपने नाटक के अंत में ऐसा एक परिवर्तन करता है कि जब इन्द्र हरिश्चन्द्र को स्वर्ग की ओर स्वागत करता है तो वह इनकार कर देता है । हरिश्चन्द्र कहता है, "नहीं चाहिए मुझे झूठा स्वर्ग । मैं मरूँगा, इसी धरती पर, सब के साथ ।हर समय तू ने हमें बेचा है, झूठे शब्दों के बाज़ार में स्वर्ग को लालच दिखा के ।"[3] यह हरिश्चन्द्र रूपी जागरण का सूचक है । हरिश्चन्द्र का मन, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, कर्मफल आदि अनगिनत कल्पनाओं द्वारा हिप्नोटाइसड स्थिति में था, जिसके नियंत्रण में वह जो रहा था । इसलिए वह इन्द्र और विश्वामित्र के धोखे को कर्मफल और सत्य की परीक्षा समझकर सब कुछ चुपचाप सह रहा था । आज भी ऐसी अनगिनत राजनीतिक एवं धार्मिक अंधविश्वासों से जनता हिप्नोटाइसड है । अंत में जनता अपनी तरफ किए जानेवाले धोखे से परिचित

---

1. लक्ष्मीनारायण लाल - एक सत्य हरिश्चन्द्र - पृ. 37
2. वही - पृ. 59
3. वही - पृ. 76

हो जाती है । लोका के शब्दों से यह व्यक्त है, "हरिश्चन्द्र सदा अपने सत्य की परीक्षा देता रहे और तुम परीक्षा लेते रहे । मैं ने इस नाटक में राजा बनकर देख लिया ; जब तक तुम हो, हम केवल बनाए ही जा सकते हैं, अपने आप कुछ नहीं हो सकते । पर अब बनने और होने का मर्म हमें मिल गया । चुप रह जाना हमारा विरोध था । पर तुम उस भाषा को नहीं समझ सके । सत्ता है तुम्हारे पास, हम सब तुम्हारे हाथों के सिर्फ कठपुतले थे । यह सारा नाटक तुम्हारा रचा हुआ था, और तुम्हीं इस के सूत्रधार थे । चलो । अब तुम्हें देनी होगी परीक्षा अपने सत्य की ।"[1] जन-जागरण की दिशा में यह नाटक बहुत कामयाब निकला है । रूढिवादिता के खिलाफ जन-चेतना जागृत करने में इस नाटक की सफलता गाँव के लोगों की इस घोषणा से स्पष्ट होती है - "अब कोई नहीं होगा इन्द्र, कोई नहीं होगा विश्वामित्र, सब होंगे हरिश्चन्द्र ।"[2]

लाल का "नरसिंह कथा" नाटक भी पौराणिक कथा पर आधारित एवं जन-शक्ति को ज़्यादा प्रमुखता देनेवाली रचना है । इस नाटक में हिरण्य कशिपु को तानाशाह के रूप में, प्रह्लाद को जन-चेतना जागृत करने वाले नेता के रूप में और नरसिंह को जागृत जनशक्ति के रूप में चित्रित किया गया है । हिरण्य कशिपु की तानाशाही में आम जनता की आशा-आकांक्षाओं का कोई स्थान नहीं था । हिरण्य कशिपु अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए हर प्रयास करता ही रहता है । हिरण्य के कुशासन से भयभीत जनता पूरी तरह प्रतिक्रिया विहीन हो जाती है । प्रह्लाद इस अन्यायी व्यवस्था के मुताबिक लडने के लिए जनता को एकत्रित करने का प्रयास करता है । तब देश के विभिन्न स्थानों में हिरण्य की तानाशाही के खिलाफ उभर आनेवाले विरोध को पूरी तरह तबाह करने के लिए वे देश में आपातकाल घोषित करते

---

1. लक्ष्मीनारायण लाल - एक सत्य हरिश्चन्द्र - पृ. 77
2. वही - पृ. 78

हैं । वज्रदन्त के शब्दों में यह व्यक्त होता है, "देश के आधे से अधिक लोग, भेद्धिए और गुप्तचर बन गए हैं । किसी अनजान के सामने आपस में बातें मत करने लगना, खासकर राजा के बारे में, कुछ भी कहना अपराध, प्राणायाम मत साध । प्रह्लाद के पक्ष में जाना, होना, उस के प्रति सहानुभूति रखना, राज्यद्रोह है । सावधान ।"[1]

नाटक का हुतासन अवाम का प्रतीक है हुतासन में अपार शक्ति निहित है । लेकिन वह पशुता से ऊपर नहीं उठा है । प्रह्लाद हुतासन में प्रतिक्रिया की चेतना उत्पन्न कर देता है । और एक बार वह राजा से कहता है, "याद रखना, हम जंगली, शूद्र, दलित, अनार्य जिन्हें न जाने कितने नाम दिए, हम एक दिन वाराह बनकर तुझ पर टूटेंगे ।"[2] यह आम आदमी में अपनी पहचान जगाने का परिचायक है । और जब यह नई चेतना हुतासन के पाशुबल से जुड जाती है तो हुतासन उस अत्याचारी राजा को खत्म कर देता है । इस नाटक से लाल यह व्यक्त करने का प्रयास करते हैं कि जब तक जनता में अपने बारे में असली पहचान और चेतना उत्पन्न नहीं हो जाएगी, उस की शक्ति से कोई फायदा नहीं है, साथ ही कभी-कभी एक अन्याय पूर्ण व्यवस्था को हटाने के लिए जनता को अपना पाशुबल का भी उपयोग करना पडेगा । नाटक के अंत में प्रह्लाद कहता है, "इस सिंहासन के विनाश के भीतर से एक नया लोकतंत्र उपजे, इस के लिए अनिवार्य है मनुष्य और पशु दोनों शक्तियाँ एक हो... नरसिंह ।"[3] इन शब्दों में, एक सच्ची लोकतंत्र पर नाटककार की आस्था अनावृत हो जाती है । हिरण्य कशिपु का फिर से आने की संभावना पर सामाजिकों को चेतावनी देकर और ऐसे खतरे से देश को बचाने के लिए सतर्क रहने का आह्वान भी करते हुए नाटक समाप्त हो जाता है ।

---

1. लक्ष्मीनारायण लाल - नरसिंह कथा - पृ. 20
2.
3.

लाल का "कलंकी" नाटक एक हद तक जनता की राजनीतिक दासता के मनोवैज्ञानिक पक्ष को उजागर करता है । हर देश की जनता के मन में किसी न किसी प्रकार के भय काम कर रहे हैं । वह कभी राजनीतिक भय हो सकता है या धार्मिक भय । जो भी हो शासक वर्ग अपनी सत्ता को मज़बूत करके हमेशा के लिए जनता के ऊपर बरकरार रखने के लिए इस प्रकार के भय एवं मिथकों का सहारा लेता है ।

शासक में जब जन-चेतना नष्ट होकर उसके स्थान पर व्यक्तिवादी प्रवृत्ति उभर आने लगती है तो वह अधिनायकत्व की ओर अग्रसर होना शुरू करता है । फिर शासन अपने सबसे कलंकित रूप धारण कर लेता है । कलंकी नाटक के आरंभ में ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया जाता है । कलंकी नगर के पुरपति अकुलक्षेम की तानाशाही में पूरे देश में भय और आतंक फैल गया है । संपूर्ण जनता पलायनवादी बन गई है । क्योंकि उसके मन में कई मंत्र, नाद, स्वर आदि काम कर रहे हैं और जिनके आगे जनता भयभीत होकर भाग रही है । नाटक की भूमिका में लाल कहते हैं, "हर शासक, नियन्ता और अधिपति को अपने अस्तित्व के लिए किसी ऐसे ही मिथक का सहारा लेना पड़ा है । बल्कि इतना ही नहीं, उस की स्थिति अक्षुण्ण रहे, इस के लिए आवश्यक होगा कि वह लोगों को उसी बहाने प्रश्नहीन कर दे । सोचना, विचारना, शंका करना, यहाँ तक कि अनुभव करना, वह व्यक्तिगत विषय न रहने दे । वह यथार्थ से लोगों को अयथार्थ की ओर मोड दे । वह प्रत्यक्ष से लोगों को अप्रत्यक्ष की ओर हाँक दें तथा उसकी गणना करता रहे । मध्ययुग में जो तंत्र साधना के नाम पर शवसाधना थी, वही आज प्रजातंत्र के नाम पर मतगणना नहीं है क्या ?"[1] शासक हर एक व्यक्ति को प्रश्नहीन बनाता है । प्रश्नहीन

---

1. डा. लक्ष्मीनारायण लाल - कलंकी - पृ. भूमिका

व्यक्ति निष्क्रिय हो जाता है । निष्क्रियता व्यक्ति और समाज को जड बना देती है । और यही निष्क्रियता तानाशाही को जन्म देती है । व्यक्ति को सामाजिक एवं वैयक्तिक स्तर पर निर्जीव बनाकर हर निर्जीव व्यक्ति की गिनती के आधार पर सत्ता को बनाए रखने की प्रवृत्ति जनतंत्र में विद्यमान है । हेरूप के शब्दों में, "संभवत: सारे रहस्य का यही था लक्ष्य । मनुष्य को पहले दिशाहीन करना, वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर निर्वीर्य कर उन्हें शव बना देना, फिर उन की गणना करते रहना ।"[1]

नाटक में पुरपति के पुत्र हेरूप को जन-चेतना को जागृत करनेवाले एक सचेतन व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है । लेकिन हेरूप यह महसूस करता है कि जिस जनता में वह जागरण लाना चाहता है वह अपने जीवन बोध से भी वंचित रह जाती है । कलंको के पुरवासियों को हेरूप याद दिलाता है कि इस अकर्मण्यता और खामोशी से तानाशाही में तनिक भी परिवर्तन नहीं आएगा । समस्याओं का सामना करने का आह्वान करते हुए हेरूप कहता है, "यथार्थ को यदि बदला जा सकता है तो केवल सामना करके ही । जब औंधा पडा मुख सामने आएगा ।"[2] पलायन से नहीं बल्कि समस्या का सामना करने से ही उस का समाधान मिल जाएगा । तानाशाही का अंत भी तभी संभव होगा जब जनता उस पर प्रहार करने को तैयार हो जाए । यहाँ नाटककार निर्जीव आदमी में प्राण फूँकने तथा सदैव संघर्षरत रहने की प्रेरणा देते हैं । लेकिन यह व्यक्ति-विशेष की जागृति से कभी भी संभव नहीं है जैसे इस नाटक में अकेले हेरूप के जागरण से व्यवस्था पर कोई असर नहीं डाला जा सकता है । परिवर्तन लाने के लिए संगठित जन-शक्ति का होना ज़रूरी है ।

---

1. डा. लक्ष्मीनारायण लाल - कलंकी - पृ. 10
2. वही - पृ. 39

डॉ. लाल का "रक्त कमल" नाटक आम जनता के साथ पूँजीपतियों की क्रूरता का वर्णन करता है । नाटक का महाबीर प्रसाद पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधि है । पूँजीपति वर्ग हमेशा अपने वर्ग-हितों के रक्षार्थ कुछ भी करने से हिचकता नहीं है । यहाँ महाबीर प्रसाद कास्मैटिक्स इंडस्ट्री बनाना चाहता है । इस के उद्देश्य में वह अनेक गरीब किसानों की ज़मीन बहुत चतुराई से हड़प ले लेते हैं । वह मंगल नामक एक व्यक्ति की भूमि हथियाने के लिए उस का कत्ल भी करवा देता है । और बाद में वह मंगल की बेटी अमृता को चुप करने के लिए उसे चालीस हज़ार रूपए तक देने का प्रस्ताव करता है । ज़ाहिर है कि आज़ादी के बाद भी वह अर्ध-सामंती अर्धपूँजीवादी व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आया है । हमारे यहाँ जनता की सरकार है और संविधान में कहा गया है कि नियम के सामने सभी नागरिकों का समान अधिकार है । लेकिन जनता द्वारा चुनी गई सरकार हमेशा जनविरोधी शक्तियों का साथ देती है, और आम जनता पर अत्याचार करनेवाले पूँजीपतियों के सामने हमारी न्याय की देवी बहुत अदब के साथ खडी होती है । इस स्थिति में आम लोगों की जान-माल की रक्षा असंभव रह जाती है । नाटक में निरीह किसानों की अज्ञता, मज़बूरी और प्रश्न विहीनता ही महाबीर प्रसाद के लिए वरदान सिद्ध होता है । यहाँ पूँजीपति वर्ग द्वारा आम जनता का विराट शोषण, जनता की तरफ से उभर आनेवाले एतराज को किसी भी तरह तबाहने के लिए पूँजीपतियों की कोशिश आदि मुद्दों पर ज़्यादा ज़ोर दिया गया है ।

महाबीर प्रसाद के भाई कमल के आगमन से घटनाओं में थोड़ा-सा परिवर्तन आने लगता है । कमल वहाँ के भूमिहीनों तथा दलित लोगों के साथ मिलकर ऐसा नाटक खेलता है जिसमें शोषकों के विरोध संघर्ष चलाने का आह्वान है । पूरे नाटक में शोषक-शोषितों के बीच के संघर्षपूर्ण वातावरण प्रस्तुत किया जाता है ।

लक्ष्मीनारायण लाल के "अब्दुल्ला दीवाना" नाटक में सत्ता द्वारा बंधुआ की गई न्याय-व्यवस्था और आम आदमी की त्रासदी के बारे में चर्चा की गई है । जनतांत्रिक व्यवस्था में न्यायालय को शरण-प्राप्ति का अंतिम स्थान माना जाता है । लेकिन आजकल न्याय व्यवस्था राजनीति और सत्ता से, "कमिटेड" बनी हुई है । अत: इस का दायित्व "संविधान" से न होकर "सत्ता" से होता है । यह आम जनता के अंतिम आश्रय-स्थान को नष्ट कर देता है ।

नाटक में अब्दुल्ला की हत्या होती है । नाटक का जज इस हत्या के बारे में चलनेवाले मुकदमे का निर्णय स्वतंत्र एवं निष्पक्ष रूप से करना चाहता है । लेकिन सरकार के आदेश पर पुलिस उसे चमडे का पट्टा पहना कर सरकारीकरण कर देती है । अब्दुल्ला की हत्या के मुकदमे में तथ्यगत प्रमाणों के बावजूद उस विषय में सरकारी दबाव से न्यायाधीश यह निर्णय करने के लिए विवश है कि अब्दुल्ला जीवित है । नाटक द्वारा डा. लालजी यह कहना चाहते हैं कि भ्रष्टपूर्ण राजनीतिक हस्तक्षेप, अनेकार्थी कानून तथा लंबी कानूनी प्रक्रियाओं के कारण देश में आम आदमी को न्याय मिलना असंभव हो गया है । नाटक में जज की स्वतंत्रता सत्ता दल द्वारा हडप ली जाती है । इसलिए अब्दुल्ला की हत्या के बारे में जज विक्षिप्त के समान यों फैसला सुनाता है, "वह मर गया... वह जिन्दा है । उस ने आत्महत्या की... वह मौजूद है । उसने गरीबी दूर की । वह बेहद गरीब है । वह प्रजातंत्र में है । बेहद गुलाम है । वह कपडों से लदा है, मगर नंगा है । वह भूखा-प्यासा है, खाता-पीता है, वह जो नहीं है, वही दीखता है, वही दीखता है, वह जो है, उस से हर वक्त भागता है - शून्य में और हवा... में और सुरंगों में और.... नशे में और.... अंधेरे में और.....।"[1]

---

1. लक्ष्मीनारायण लाल - अब्दुल्ला दीवाना - पृ. 111

ज़ाहिर है कि लाल के अधिकांश नाटक जन-चेतना को प्रोत्साहित करनेवाली रचनाएँ हैं । उन्होंने अपने नाटकों में इतिहास, प्रतीकात्मकता, फैंटसी आदि को उचित रूप से इस्तेमाल करके अपने नाटकों को ज़्यादा प्रभावशाली बनाने का सफल प्रयास किया है ।

जनवादी चेतना के परिप्रेक्ष्य में, ज्ञानदेव अग्निहोत्री का "शुतुरमुर्ग" एक बहु चर्चित रचना है । प्रस्तुत नाटक में एक राजा अपने यश को चिरंतन स्थापना हेतु नगरी में एक सोने के शुतुरमुर्ग को प्रतिमा बनवाना चाहता है । देश के सारा धन, समस्त शक्ति, संपूर्ण साधन और कुल प्रतिभा एक शुतुरमुर्ग को प्रतिमा बनाने में लगाए जा रहे हैं । देश की जनता शोषण की पराकाष्ठा कहकर इसका विरोध करती है । आम जनता को इस तरह के निर्माण से कोई लाभ नहीं है और यह जनता की कमाई का दुरुपयोग है । नाटक में लोग सुबोधी लाल की अगुवाई पर प्रतिमा निर्माण के खिलाफ संगठित हो जाते हैं । उन की मांग है कि सोने के शुतुरमुर्ग की प्रतिमा बनाने का काम बन्द किया जाय और जनसाधारण की बुनियादी ज़रूरतों की पूर्ति को प्राथमिकता दी जाए ।

लेकिन इतिहास इस के लिए गवाह है कि सत्ताधारी वर्ग ने हमेशा अपनी तरफ उभर आनेवाले विरोध की आग को किसी तरह बुझाने के लिए अपने अपने तरीकों का इस्तेमाल किया है । यहाँ नेता सुबोधी लाल को मंत्रि-पद की लालच दिखाकर राजा अपने पक्ष में बदल देता है । जब सुबोधीलाल बिरोधीलाल में तब्दील हो जाता है तो वह अपने नेतृत्व में संगठित लोगों से कह देता है कि देश की समस्या तो कुछ और है । इससे संकेत किया जाता है कि सत्ताधारी दल के नेता हो या विपक्षी दल के नेता हो, दोनों जनता को दिशाभ्रष्ट करते हैं । नेताओं के इस वर्ग-चरित्र के सामने आम जनता धोखा खा रही है ।

साधारण जनता आधुनिक युग में भी ऐसे राजनेताओं के शुतुरमुर्गी मानसिकता के शिकार बन रही है । एक देश का अस्तित्व उस देश के मेहनतकश वर्ग की पसीने पर खड़ा है । शासक वर्ग अपनी सुविधा और स्वार्थ-पूर्ति के लिए मेहनतकश वर्ग का दुरूपयोग कर रहे हैं । हमारी सरकार तो राष्ट्रीय संपत्ति के अलावा विश्व बैंक से भी कर्ज लेकर देश में प्रगति लाने के नाम पर आडंबर के लिए खर्च कर रही है । हर एक नागरिक के नाम पर उधार लेनेवाला धन का फोर लाइनवाली सड़कों, बहुमंजिले मकानों के निर्माण के लिए उपयोग किया जाता है । और उसके बाद यहाँ की सड़कों में निकलनेवाली मोटर गाड़ियों को बढ़ती शुमार को देखकर यहाँ के महानगरों में दिन-प्रतिदिन उभर आनेवाली इमारतों की ऊँचाई को देखकर और यहाँ के राज मार्गों की लंबाई और चौड़ाई को देखकर हम उसे अपने देश की तरक्की मानते हैं, जबकि देश के बहुसंख्यक लोग भूखे-नंगे रह जाते हैं । नाटक के अंत में जनता की संगठित क्रांति होती है जिसके द्वारा राजा को निकासित करते हुए जनता सत्ता हासिल कर लेती है ।

साठोत्तरी युग के नाटकों में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के नाटक बहुत ही सशक्त जनवादी रचनाएँ है । उन की झुकाव नाटक की लोकधर्मिता के साथ संपृक्त रही थी । उन्होंने इस क्रम में तीन नाटक लिखे -"लड़ाई", "बकरी" और "अब गरीबी हटाओ" । वे अपने नाटकों समाज में फैले हुए भ्रष्टाचार, शोषण, गरीबी आदि पर प्रकाश डालते हुए इन समस्याओं से मुक्त होने के लिए आम जनता की तरफ से संगठित संघर्ष की माँग करते हैं ।

"बकरी" एक राजनीतिक व्यंग्य नाटक है । गाँववासियों को दयनीय स्थिति और उनकी मज़बूरी का राजनेता किस तरह दुरूपयोग कर रहे हैं - इस नाटक की केन्द्रीय व्यंजना है । इस नाटक में तीन डाकू पुलिस की मदद से एक गरीब ग्रामीण युवती की साधारण-सी बकरी को गाँधी की

विशिष्ट बकरी की परंपरा की अंतिम कडी कह कर हडप ले लेते हैं । फिर उस बकरी के नाम पर अनेक संस्थाएँ चलाकर जनता का शोषण करते हैं, बकरी की पूजा करने के लिए भोले-भाले ग्रामीणों को बाध्य करते हैं और फिर उसी का सहारा लेकर वोट मांगते हैं । अथवा बकरी "बकरी माता" में तब्दील हो जाती है । बकरी माता का आशीर्वाद पाने के लिए लोग पागल होकर बकरी की पूजा-अर्चना के लिए विवश होते हैं । नाटक के आरंभ में बकरी को हडप लेनेवाले डाकू हो अंत में नेता के रूप में आते हैं । यह राजनीति के क्षेत्र में व्याप्त अपराधीकरण की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है ।

बकरी गांधीवादी सिद्धांतों का प्रतीक है । स्वाधीनता के बाद जिन की आड में अपने आप को जनता का सेवक कहलानेवाले नेतागण भोली-भाली, धर्मभीरू तथा अशिक्षित जनता को लूट रहे हैं । विदेशी गुलामी से प्राप्त आज़ादी, भारत के अवाम के लिए अपने नेताओं के ज़रिए छले जाने की शुरूआत थी । विडम्बना यह है कि आज के राजनेता, वही गाँधी के नाम को छलने का सबसे सरल उपाय बनाया जिन्होंने राजनीति में चरित्र के महत्व पर ज़्यादा ज़ोर दिया था । आज सत्ता पर बैठे लोग गाँधी के नाम पर जनता को लूट रहे हैं । बकरी के नाम पर "स्मारक निधि", "बकरी शांति प्रतिष्ठान", "बकरी सेवा संघ" "बकरी मंडल" जैसी बहुत सी संस्थाएँ खडी कर लेने का दृश्य इस नाटक में देख सकते हैं । नाटक में धर्म और राजनीति के तानो-बानो पर भी व्यंग्य किया गया है ।

"बकरी" धर्म और राजनीति के सामने अवाम की मानसिक गुलामी को प्रस्तुत करता है तो "अब गरीबी हटाओ" द्वारा सक्सेनाजी यह स्पष्ट करते हैं कि देश में व्याप्त गरीबी को कभी भी शासन तंत्र नहीं हटा सका है बल्कि गरीबी के खिलाफ हमेशा गरीबों को ही लडना पडता है ।

इस नाटक में हरिजनों की समस्याओं पर नाटककार ने विशेष ध्यान दिया है । यहाँ मध्ययुग के एक राजा के सामने एक औरत और आदमी लाए जाते हैं । वे दोनों गाँव के दलित हैं । उनकी माँग यही थी कि अपने गाँव में दलितों के लिए एक कुआ नहीं है, इसलिए एक कुआ खुदवा जाए । जब वह आदमी कुआँ खोदने की माँग रखता है तो राजा उसे कैदी बनाते हैं । दूसरे एक दृश्य में आधुनिक युग के एक मंत्री और राजनेता गाँव में आते हैं । उधर भी दलित लोग कुएँ की माँग रखते हैं, क्योंकि गाँव में हरिजनों के लिए कुआँ नहीं हैं ।

ये दोनों दृश्य स्पष्ट करते हैं कि दलितों की स्थिति मध्ययुग में तथा आधुनिक युग में बराबर है । दलितों तथा पीडितों के लिए राजतंत्र और जनतंत्र में कोई फरक नहीं है ।

इस नाटक में एक औरत गरीबी के कारण खुदकुशी करने की कोशिश करती है । उस के पति सरकार के विरुद्ध विद्रोह में भाग लेने की वजह से कैदी बनाया गया था । इसलिए भूख के मारे वह अपने बच्चों की हत्या करने और आत्महत्या करने की कोशिश करती है । हत्या और आत्महत्या की कोशिश पर उस औरत पर कानूनी कार्रवाई की जाती है । यहाँ दारोगा और सरपंच औरत को बलात्कार करते हैं । एक दृश्य में वह मध्ययुगीन राजा भी अपने सामने आई उस औरत को बलात्कार करते हैं ।

ये तीनों दृश्य स्पष्ट करते हैं कि गरीब नारी पुराने ज़माने में तथा आधुनिक जनतांत्रिक ज़माने में शोषण की शिकार बनती जा रही हैं । और यह भी स्पष्ट होता है कि सत्ता सदैव माँगें उठानेवालों की तरफ एक ही नज़रिए से देखती हैं । जब कोई आदमी सत्ता के सामने अपने मांगों को पेश करता है तो सत्ता तभी उसे कैदी बनाती है ।

शासक वर्ग के नारों के खोखलेपन यहाँ देखने को मिलता है । जनता को अपने साथ रखने के लिए वे नए-नए नारों को बनाते हैं । देश में गरीबी बढ़ने पर शासक वर्ग "गरीबी हटाओ" का नारा लगाता है । यह नारा वह अपने लिए लगाता है, क्योंकि सत्ता प्राप्त करते ही वह अपनी ही गरीबी दूर करने में जुट जाता है, शेष जनता की गरीबी के प्रति वह उदासीन बना रहता है ।

नाटक के अंत में एक आदमी सरपंच को मारनेवाला था तो एक बूढा आदमी कह उठता है कि एक जड काटने से कुछ फरक नहीं पडता । असली जड काटनी होगी । गरीबी हटाने में सक्सेना का तात्पर्य यह है कि सिद्धांतत: शोषक वर्ग गरीबी के विरुद्ध प्रचार अवश्य करता है । किन्तु व्यवहार में तो वह अपनी ही जेबें भर-भर कर अपनी ही गरीबी हटा रहता है । इसलिए अब जनता को स्वयं संगठित होना होगा और सामूहिक ताकत संजोकर क्रांति करनी होगी ।

सक्सेना का "लडाई" नाटक भी एक सशक्त जनवादी नाटक है । इस नाटक का प्रधान पात्र सत्यव्रत उदासीनता से, गरीबी से, मानसिक गुलामी से, औपनिवेशिक संस्कृति से, सामन्ती स्वभाव से, जातिवाद से, भाषावाद से और सभी प्रकार की सामाजिक कुरीतियों से लडाई चलाने निकलता है । लेकिन नीति को इस लडाई में सत्यव्रत अकेला है । नाटक में कई खंडित दृश्यों के ज़रिए समाज के विभिन्न क्षेत्रों में फैले हुए अत्याचारों को प्रस्तुत किया गया है । इस में शिक्षा-प्रणाली की दिशाहीनता, गुंडागिरी, नौकरशाही, कर्मचारियों की अकर्मण्यता, बुद्धिजीवियों की यश-लिप्सा आदि पर प्रकाश डाला गया है ।

आजकल सिर्फ चांद-पैसेवालों के बेटों को शिक्षा मिल जाती है । गरीबों के बच्चों को शिक्षा दुर्गम-साध्य है । और देश में जो शिक्षा दी जाती है वह दरअसल देश की प्रगति के लिए लाभदायक नहीं है । नाटक का सत्यव्रत, बिना काम करके सुखमय जीवन बितानेवाले, नई पीढी को भडकानेवाले अध्यापकों तथा एक दूसरे के साथ निरर्थक आलोचना-प्रत्यालोचना करके समय बरबाद करनेवाले बुद्धिजीवी से मिलकर अपने आत्मरोष प्रस्तुत करता है । और धार्मिक शोषण के खिलाफ भी सत्यव्रत आवाज़ उठाता है । देश के स्वामी लोग बिना पसीने का खाना लेता है । वे सिर्फ आम आदमी के अंधविश्वास पर अपने साम्राज्य की स्थापना करते हैं । सत्यव्रत धर्म के नाम पर चलनेवाले सारे अत्याचारों का खंडन करता है । लेकिन सब प्रकार के अत्याचारों के खिलाफ लडते-लडते सत्यव्रत हार जाता है । क्योंकि नीति की इस लडाई में सत्यव्रत अकेला था । इस के ज़रिए सक्सेनाजी यही स्पष्ट करते हैं कि अकेले होकर विद्रोह करने से या व्यक्तिगत रूप से संघर्ष करने से कोई फायदा नहीं है । विद्रोहों को फतह में लाने के लिए जनता को एकत्रित होना चाहिए । सर्वेश्वर के सभी नाटकों का मूल स्वर जनता के सामूहिक संघर्ष का है । वे इस पर विश्वास रखते हैं कि व्यक्तिगत संघर्षों का परिणाम हमेशा पराजय है । जनता को अपनी तरफ होनेवाले दोहन के प्रति जागृत होना और संगठित होकर उन के खिलाफ संघर्ष चलाना भी चाहिए । इन तीनों नाटकों में वे संगठित संघर्ष का आह्वान करते हैं । वे जन-जागरण को ही मुक्ति का एकमात्र मार्ग समझते हैं ।

आपात कालीन परिवेश में रचित सबसे सशक्त व्यंग्य नाटक है सुशीलकुमार सिंह का "नागपाश" । आपातकाल के पूर्व, आपातकाल के दौरान और आपातकाल के बाद की हालतों को प्रस्तुत करनेवाले इस नाटक के छहों अनाम पात्र एक समूची परिस्थिति, एक समूचे वातावरण और एक समूची संभावना के रूप में अपने आप को प्रस्तुत करते हैं ।देश के शासक के रूप में एक स्त्री-पात्र है ।

उसके शासन से अतृप्त लोग उस के खिलाफ आवाज़ उठाते हैं । देश में बढते आक्रोश को बंद करने के लिए वह स्त्री "अंदर संकट, बाहर संकट, ऊपर संकट, नीचे संकट, दाएँ संकट, बाएँ संकट"[1] कहकर जनता को एक सशक्त नागपाश से बांधती है । यहाँ नागपाश आपात काल का प्रतीक है और वह स्त्री-पात्र तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी भी ।

नाटक में पत्रकारों तथा साहित्यकारों पर लगाई गई पाबन्दियाँ, पुलिस-दमन, न्याय-व्यवस्था पर लगाए गए हथकंडे, मानवाधिकार का हनन आदि आपातकालीन परिस्थितियों के बारे में विस्तृत चर्चा हुई है । इस नाटक के बारे में तीसरे अध्याय में विस्तृत चर्चा हुई है ।

साठोत्तरी युग में रचित नाटकों में श्री ब्रजमोहन शाह का "त्रिशंकु" ऐसा एक महत्वपूर्ण नाटक है जिस में बेरोज़गारी, राजनीति का अवमूल्यन, राजनेताओं और पूँजीपतियों के बीच मौजूद नापाकी रिश्ता, जनता का विराट शोषण आदि मुद्दों पर ज़ोर दिया गया है । इस नाटक में बुनियादी ज़रूरतों से वंचित आम आदमी एवं जनता को झूठे नारों से भ्रमित करनेवाले राजनीतिक उद्योगपतियों का वर्णन हुआ है । नाटक के राजा, किसानों से लगान वसूल करते हैं । लेकिन किसान लोग पानी, ज़मीन, बीज और खाद पूछते वक्त उन्हें भगाने के लिए हुक्म देते हैं । उसके बाद निम्न वर्ग के लोग आते हैं - रोटी, कपडे और मकान की मांग उठाकर । तब राजा कहते हैं कि यह सरासर पागलपन है । लोग राजा के खिलाफ धरना, घेराव, पथराव, हडताल आदि लगाते हैं और राजा के आदेश के अनुसार उन पर लाठी चैर्ज चलायी जाती है । इस तरह लाठी-गोली के माध्यम से जनता की आवाज़ बन्द करने की शासकों की कोशिश की सीधे प्रस्तुत करने का प्रयास इस नाटक में हुआ है ।

---

1. सुशीलकुमार सिंह - नागपाश - पृ. 29

H.W. 2.497
ANS

नाटक का लीडर युवक के सामने देश में व्याप्त बेरोज़गारी और गरीबी पर अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए कहता है, "हम जानते हैं - अमीरी-गरीबी, मुल्क की सबसे बडी समस्या है, शत्रु है । यह खत्म होनी ही चाहिए । इसलिए कहते हैं - गरीबी हटाओ ।"[1] विपक्षी दल का यह लीडर एक बेरोज़गार युवक से कहता है, आज सरकार की स्वार्थपरायण नीति से तंग आकर एक नए दल का निर्माण किया है । एक नई सेना बनाई है इसका उद्देश्य है देश में व्याप्त शोषण, करप्शन को जड़ से उखाडकर राष्ट्र को खुशहाल बनाना । जन-जन को रोटी, कपडा, मकान देकर छोटे-बडे, ऊँच-नीच के भेद-भाव को आमूल चूल कुचलकर, राजा महाराजों को बनाए रखकर सही और सच्चा समाजवाद स्थापित करना जिस के लिए हमें तुम जैसे क्रांतिकारी जवान मर्दों की ज़रूरत है । तुम हमारे दल के सदस्य हो जाओ और चुनाव में हमारी मदद करो ।"[2] इस प्रकार झूठे प्रलोभन देकर विपक्षी लीडर युवक को गुमराह करता है । दरअसल उस की अभिलाषा है कि ऐसे दस-बीस युवक चंगुल में आ जाएँ तो रूलिंग पार्टी के दांत खट्टे कर दें । ज़ाहिर है कि विपक्षी दल और रूलिंग दल - दोनों के नेता हमेशा जनता को मूर्ख बनाकर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं ।

अपने नाटक "कालजयी" द्वारा शंकर शेष यह साबित करता है कि सत्ताधारी व्यक्ति बदलने पर भी सत्ता का स्वभाव अपरिवर्तित रह जाएगा । अक्सर जनता स्वप्न देखती है कि वर्तमान शासक को गद्दी से गिराकर किसी दूसरे शासक का आगमन हो तो सब कुछ ठीक हो जाएँगे । लेकिन हकीकत यह है कि शासकों का वर्ग-स्वभाव एक ही होता है । "कालजयी" में शासक वर्ग व्यवस्था और कानून के परिपालन की आड में सामान्य जनता

---

1. ब्रजमोहन शाह - त्रिशंकु - पृ. 87
2. वही - पृ. 87

G8558

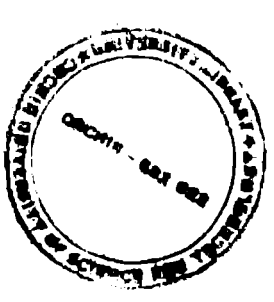

की अज्ञता का लाभ उठाते हुए छल-कपट और आतंक के बल पर उन्हें अपनी आज्ञापालक बनाए रखता है । एक शासक की मौत के बाद उत्तराधिकारी वही मुखौटा धारण कर उन्हीं आदर्शों का निर्वाह करता है जो उसके पूर्वजों ने अपनी सुविधा के लिए बनाई थी । फिर सत्ता में बने रहने के लिए वह जनसाधारण में भय आतंक फैलाकर उन्हें सही मुद्दों पर सोचने का अवसर नष्ट कर देता है । शासक वर्ग कभी नहीं चाहता कि देश में सच्चा लोकतंत्र स्थापित हो, जनता अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो, ज़िन्दगी में प्रगति लाने एवं वेतन में वृद्धि होने की मांग करें । वह हमेशा अपनी प्रजा को एक सच्चे स्वामि-भक्त के रूप में देखना चाहता है । शिक्षित जनता को वह खतरा समझकर जनता को अशिक्षित या अल्पशिक्षित बनाए रखना चाहता है । जनता के मन में जनतांत्रिक व्यवस्था से संबंधित विचार आने की संभावना सुनकर भयभीत कालजयी अपने सेनापति को आदेश देता है, "जैसे ही प्रजातंत्र के विचार लोगों के मन में आएँ, युद्ध की घोषणा कीजिए । लोग प्रजातंत्र सब भूल जाएँगे । घृणा और युद्ध का वातावरण बनाए रखना ही एकमात्र उपाय है...."[1] इस तरह पड़ोसी देश को शत्रु के रूप में प्रचार करते हुए उस देश पर आक्रमण कर दिया जाता है । कालजयी कहता है, "बहुत ठीक, उनके मस्तिष्कों में केवल एक बात जमाओ कि महादेश हमारा शत्रु है । घृणा पैदा करो, घृणा केवल युद्ध भावना को जन्म देती है और युद्ध भावना से पीड़ित जनता कभी अपने विकास की मांग नहीं करती ।"[2]

कालजयी को मारने के पश्चात् शीलभद्र सत्ता-लोलुपता के कारण उसी का मुखौटा पहन लेता है और कालजयी राजा का रूप धारण कर लेता है । व्यक्ति बदल जाने से शासन व्यवस्था बिलकुल नहीं बदलती । सभी कुछ पूर्ववत् विद्यमान रहेगा । नाटक के अंत में प्रजातंत्र के समर्थकों को कालजयी

---

1. शंकर शेष - कालजयी - पृ. 21
2. वही - पृ. 19

पर विजय प्रदर्शित कर नाटककार ने अपना मंतव्य व्यक्त कर दिया है । मुखौटाधारी सत्ता का विनाश और उस के स्थान पर जनतांत्रिक शासन की स्थापना शोषित वर्ग की विजय की घोषणा करती है । यह नाटक उत्पीडित जनता की वर्ग-चेतना को मज़बूत बनाता है और जनशक्ति के महत्व पर ज़ोर देता है । नाटक के अंत में मृत्युंजय द्वारा दी गई चेतावनी शोषितों के लिए एक महान संदेश है - "हमेशा ध्यान रखना कि किसी के हाथ में कालजयी का मुखौटा तो नहीं है । लाखों करोडों बातों को सुनना, कोटि कोटि आँखों से देखते रहना कि जनता को धोखा देकर कोई कालजयी बनने का प्रयत्न तो नहीं कर रहा है ।"[1]

भीष्म साहनी ने अपने नाटक "कबिरा खडा बाज़ार में" में कबीरदास को एक शक्तिशाली क्रांतिकारी के रूप में प्रस्तुत किया है । यहाँ कबीर दास के अनन्य, अपार व्यक्तित्व ने ही नाटक को ज़्यादा आकर्षक बनाया है । वर्णाश्रम व्यवस्था, धर्मांधता, शोषण आदि द्वारा पतनोन्मुख एवं मूल्य विहीन मध्यकालीन समाज ही नाटक की पृष्ठभूमि है । अशिक्षा और अंधविश्वास से भरपूर, अंधकारपूर्ण मध्यकालीन समाज के मंच पर कबीरदास ज्ञान के एक उज्ज्वल मशाल को लेकर प्रवेश करता है । प्रथम अंग में कबीर कहता है, "मुझे इस अंधेरे में रोशनी की लौ चाहिए ।"[2]

जनविरोधी ताकतों के खिलाफ कबीर अपनी आवाज़ उठाता है । कबीर के पदों को समस्त दलित, पीडित, निरक्षर, शोषणग्रस्त लोग अपनी आत्मा से दोहराकर कबीर के पीछे एकत्रित हो जाते हैं । वे कबीर की वाणी को आज़ादी का मार्ग मानते हैं । एक बार कबीर कायस्थ से

---

1. शंकर शेष - कालजयी - पृ. 95
2. भीष्म साहनी - कबिरा खडा बाज़ार में - पृ. 28

कह उठता है, "सुनिए साहिब, मैं हूँ तो नीच जात का अनपठ जुलाहा, पर एक बात तो मैं भी समझता हूँ । जब तक किसी की नज़र में एक ब्राह्मण है और दूसरा तुर्क, तब वह इनसान नहीं समझेगा । मैं इनसान को इनसान के नाते गले लगाने के लिए मन्दिर के सारे पूजापाठ और विधि-अनुष्ठान छोडता हूँ और मसजिद के रोज़ा-नमाज भी छोडता है । मैं इनसान को इनसान के रूप में देखना चाहता है ।"[1]

समाज में हमेशा ऐसा एक वर्ग है दूसरों की मेहनत पर, दूसरों के पसीने पर सुवर्ण अट्टालिकाओं में जी रहा है और दूसरों को सीकरों को अपने गले की मणि-माला में तब्दील कर देता है । शोषण को इस वास्तविकता पर नाटक ज़्यादा ज़ोर देता है । सिकन्दर लोदी से कबीर कहता है, "जुलाहों को यही खूबी है बादशाह सलामत, लोगों को कपडे पहनाते हैं, खुद चिथडों में घूमते हैं । जुलाहों को चिथडे भी नज़ीब हो जाएँ, गनीमत है ।"[2]

हमेशा संगठित जनता पूँजीपतियों तथा शासकों में भय उत्पन्न करती हैं । इसलिए ऐसे जनान्दोलन की उत्पत्ति जनविरोधी ताकतों के लिए कभी भी बरदाश्त नहीं है । वे ऐसे प्रयासों को तबाहने के लिए हमेशा अपने फण फैलाकर सजग रहते हैं । इस नाटक में कबीर को भी ऐसी फणियों की चोट लग गई । कबीर की कुटीर को उन लोगों ने जलाया, उस के पदों को उच्चरित करनेवालों को कोडा लगा दिया गया और अंत में कबीर तथा उनके साथियों को शहर से बाहर निकाला गया ।

---

1. भीष्म साहनी - कबिरा खडा बाज़ार में - पृ. 81
2. वही - पृ. 96

कबीरदास दरअसल वर्ग-विभक्त एवं शोषणग्रस्त एक समाज को वर्गहीन तथा स्वतंत्र बनाने का प्रयास कर रहा है । केवल भौतिक बातों में ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक नज़रिए से भी परिवर्तन लाना उन का लक्ष्य था । नाटक में कबीर का व्यक्तित्व, अशिक्षित, उत्पीडित एवं अधिकार से वंचित आम जनता की सुप्त चेतना को जागृत करनेवाले एक सशक्त नेता के रूप में या एक सशक्त वैचारिक आन्दोलन के रूप में विद्यमान होता है ।

भीष्म साहनी का "हानूश" नाटक कलाकार और सत्ता के बीच के अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करता है । इस में चेकोस्लोवाकिया के एक घडी कलाकार की ज़िन्दगी का चित्रण हुआ है । हानूश का परिवार गरीबी से पीडित है । जब वह सत्रह सालों के निरंतर परिश्रम के बाद एक अद्भुत घडी के निर्माण में सफल हो जाता है तो बादशाह के आदेश पर वह घडी नगरपालिका के मीनार पर लगाई जाती है । बादशाह को भय है कि हानूश ऐसी अन्य घडियाँ न बना लें, इसलिए वह उसकी आँखें निकलवा लेता है । यह शासकों के वर्ग चरित्र को उजागर कर देता है । हर समय में शासक वर्ग कलाकार से डरते रहे थे । जब कला अपनी सत्ता और शान के सामने एक खतरा बनती है तो शासक वर्ग उसे दबाने तथा अपने इशारे पर नचाने का प्रयास करता है । आपात काल इसके लिए एक स्पष्ट उदाहरण है । आपात काल में इंदिरा गांधी ने भारत के साहित्यकारों तथा कलाकारों की बोलती बन्द कर डाली थी ।

इस समय के जनवादी नाटकों में शरद जोशी कृत "अंधों का हाथी" और "एक था गधा उर्फ अलादादखाँ" नाटकों का एक महत्वपूर्ण स्थान है । वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था और पार्टी पोलिटिक्स के खोखलेपन का पर्दाफाश करनेवाला नाटक है "अंधों का हाथी ।" यह नाटक पाँच अंधों और एक हाथी की उस लघु कथा पर आधृत है । हाथी के विभिन्न भागों में

छू-छूकर इन अंधों ने हाथी के बारे में जो वर्णन किया है वे वास्तविकता के तनिक भी निकट नहीं आए । इस नाटक में "हाथी" देश की समस्या है और चार अंधे और एक अंधी यहाँ के नेताओं, अफ्सरों तथा शासकों के प्रतीक हैं । सूत्रधार जन-चेतना का द्योतक भी । सूत्रधार याने जनता इन अंधों को मंच पर लाकर उन से हाथी को पहचानने, तथा हाथी की समस्या को हल करने के लिए अनुरोध करता है । जनता का विश्वास है कि ये चुने हुए अंधे इस में कामयाब होंगे कि हाथी क्या है ? हाथी क्यों है, कब तक रहेगा, इस से खतरा क्या है और बचाव का क्या उपाय हो सकता है.... आदि ।

लेकिन जिनके हाथों ये जिम्मेदारी सौंप दी थी, वे अपनी जिम्मेदारियों को भूल गए । वे लोग कभी कभी लंबी छुट्टियाँ लेते हैं और कहते हैं, छुट्टी के बाद हाथी की समस्या पर विचार करेंगे । वे महंगाई भत्ते में बढावा माँगते हैं और कहते हैं, अपनी माँगों को पूरा करने तक हाथी पर विचार नहीं करेंगे । इस के ज़रिए शरद जोशी हमारे देश के वेतन भोगी अफसरों की सुविधा-भोगी ज़िन्दगी की ओर दृष्टि पहुँचाने की कोशिश करता है । ये लोग सरकारी खजाना को अपनी सुख-सुविधाओं के लिए इस्तेमाल करते हैं और देश की समस्या जैसी की तैसी रह जाती है । इन सब करतूतों का दुष्परिणाम देश की आम जनता को ही भोगना पडता है । उन अंधों के ज़रिए शरद जोशी जी नौकरशाही पर प्रकाश डालने का प्रयास ही कर रहे हैं ।

राजनीतिक क्षेत्र में चलनेवाले दोहन का वर्णन भी इस में मिल सकते हैं । सूत्रधार कहते हैं कि इन अंधों ने हाथी की समस्या को हल करने के लिए जो दावा अपने घोषणा पत्रों द्वारा किया है उसका पालन अभी तक नहीं किया है । लेकिन ये अंधे सूत्रधार याने जनता की इस बात को अनसुना कर देते हैं । जब चुनाव का वक्त होता है तो अखबार पर हाथी के बारे में अंधों की लापरवाही की खबर आ जाती है । तब दर्शकों या जनता के सामने

अपनी इज्जत बचाने के लिए उनके पास हाथी के बारे में कुछ भी न कहने को है । अंत में एक नारे के रूप में वे उपाय ढूँढ निकालते हैं -"हाथी हटाओ" । एक नया नारा जो सबका ध्यान खींच लेगा । यह नारा लगाकर वे खूब शोर मचाते हैं । इधर राजनीतिक दलों के खोखलेपन पर खुलकर आलोचना की गई है ।

जब देश की समस्या या "हाथी की समस्या" के बारे में सवाल उठाया जाता है तो हर एक अंधा अपनी-अपनी नज़रों के ज़रिए हाथी की व्याख्या करता है । हर एक अंधा अपने-अपने दृष्टिकोण के समर्थन के लिए आरोप-प्रत्यारोप करता है । लेकिन हाथी की समस्या तो जैसी की तैसी रह जाती है । सूत्रधार का कहना है "अंधे पाँच है । मानों छः होते । तब ? आप को हाथी को लेकर छः विचार सुनाई देते । या सात या दस, जितने भी अंधे होते । अंधों के समूह बन जाते । एक समूह मानता कि हाथी दीवार की तरह है और दूसरा समूह मानता कि अजगर की तरह । ये समूह कहलाते दीवार पंथी, सूप पंथी या खंभा पंथी या दीवारवादी, खंभावादी या अजगरवादी । बड़े-बड़े दल और उनके माननेवाले । तब क्या होता ? कुछ नहीं होता ।"[1]

अंत में जब सूत्रधार हाथी की समस्या के बारे में अंधों के सामने सवाल उठाता है तो वे सूत्रधार पर हमला करके उसे मार डालते हैं । क्योंकि जनता को प्रश्नहीन बनाना ही अंधों का मकसद है । वे समझते हैं कि जनता मूर्ख है । एक हद तक यह सही है भी । क्योंकि जनता की मूर्खता या प्रश्नहीनता का ही वे मुनाफा उठाते हैं । शरद जोशीजी का तात्पर्य यह है कि इन अंधों से जनता को मुक्ति तभी संभव होगी जब जनता अपनी अंधता को दूर करते हुए इन राजनैतिक, नौकरशाही अंधों के कथन और करतूतों की हकीकत को पहचान कर लें ।

---

1. शरद जोशी - अंधों का हाथी - पृ. 14

इस नाटक में जनता ही क्यों देश का शासक वर्ग, राजनीतिज्ञ, मंत्री, अफसर वर्ग, बुद्धिजीवी सब अंधे होकर हाथी के विभिन्न अंगों को टटोलकर अर्धसत्य को ही ग्रहण करते हैं । देश की तमाम समस्यायें जैसी की तैसी बनी रहती है । देश को अगुआई करनेवालों की अंधता देश के लिए एक बड़ा खतरा है । यह नाटक जनता को इस खतरे से हमेशा सावधान रहने तथा इस अंधी व्यवस्था को बदलने के लिए एकजुट होने की प्रेरणा देता है ।

शरद जोशी का "एक था गधा उर्फ अलादाद खां" नाटक शासक वर्ग की स्वार्थांध एवं आत्मकेन्द्रित मनोवृत्ति और आम आदमी की त्रासदी का नग्न चित्र प्रस्तुत करता है । शासक वर्ग हमेशा चाहता है कि उसने जो भी फैसला ले लिया है, चाहे वह दोषपूर्ण हो, जनघाती हो, उसे पूरा कर दिखाना है, क्योंकि आम जनता के सामने उसकी घोषणा इज्जत का सवाल बन जाता है । इस नाटक में एक नवाब द्वारा अपनी घोषणा की पूर्ति की जाती है जो इनसानियत की अंतिम बूंदों को भी भाप बना देती है । यहाँ एक अलादाद खां मर जाता है । यह खबर सुनकर नवाब की ओर से राष्ट्रीय शोक मनाने की घोषणा कर दी जाती है । जनता की हमदर्दी हासिल करने के लिए नवाब इसे एक अच्छा मौका समझकर खुद उसकी अर्थी में शामिल होने की घोषणा करते हैं । सरकारी कार्यालय, स्कूल आदि बन्द कर दिये जाते हैं । शोक भाषण प्रसारित किए जाते हैं, शोक सभाओं का आयोजन किया जाता है । अलादाद खां के नाम पर शहर की सड़क अथवा चौक का नामकरण करने की घोषणा भी कर दी जाती है । और अंत में पता चलता है कि अलादाद खां कोई आदमी नहीं है, बल्कि उस नाम का एक गधा था । तब सरकारी घोषणाओं की पूर्ति के लिए एक शरीफ और बेकसूर आदमी की हत्या की जाती है ताकि नवाब उसकी शवयात्रा में शामिल हो सके, उसकी अर्थी को अपना कंधा देकर जनता के सामने अपनी छवि बना सकें ।

साठोत्तरी युग के प्रमुख नाटकों में कुछ नुक्कड नाटक भी आते हैं । नुक्कड नाटक पर आधारित अगले भाग में इन नाटकों की चर्चा की गई है ।

नुक्कड नाटक : सशक्त जनवादी कला माध्यम

नुक्कड नाटक वह नाट्य-रूप है जो सामान्य जन-जीवन की दैनिक समस्याओं से घनिष्ठ रूप से जुडते हुए, जनता के बीच गली, सडक अथवा नुक्कड पर आकर जनता के मुक्ति-मार्ग को दिखलाता है । इसलिए वे तमाम नाटक जो अन्याय, अत्याचार और शोषण के खिलाफ आम आदमी को जगाने के उद्देश्य से गली, सडक, नुक्कड, चौराहे, पार्क या कारखाने के किसी खुले स्थान पर जनसामान्य के बीच, उनकी ही भाषा में प्रस्तुत किए जाते हैं, "नुक्कड नाटक" कहे जाते हैं । तात्कालिक विषयों पर आधारित इन लघु नाटकों से आजकल आम आदमी बहुत प्रभावित है । आम जनता के बीच में से उन की समस्याओं को उनकी जबान में खेले जाने की वजह से यह एक सशक्त जनवादी माध्यम बन गया । नुक्कड नाटक की इस जनवादी विशिष्टता को कई मिसाल विश्व के विभिन्न देशों की सामाजिक एवं राजनीतिक क्रांति से जुडे रंगमंच पर दीख पडती हैं ।

नुक्कड नाटक का विकास

विश्व भर नुक्कड नाटक का विकास एक सामाजिक विद्रोह के रूप में हुआ था । बीसवीं शती के आरंभ में ब्रिटन, आस्त्रिया, जर्मनी, रूस आदि देशों में जो राजनीतिक रंगमंच मौजूद थे, वे नुक्कड रंगमंच थे । इन देशों के रंगमंच इस बात के लिए गवाही है कि एक राजनीतिक क्रांति में उस देश के रंगमंच अपनी सशक्त भूमिका निभा सकते हैं । यह ऐसा एक ताकतवर आन्दोलन था जिस ने योरोपीय देशों तथा लैटिन अमरिका को

कॉलोनियों में अपनी मुक्ति के इच्छुक लोगों के विद्रोह की तीव्रता को और अधिक बढावा दिया । रूस में 1917 की क्रांति का समय इस का उत्कर्ष काल था । उस समय रूस में "ब्लू ब्लाउस" नामक एक नाट्य मंडली थी । ब्लू ब्लाउस को नुक्कड नाटक के लिखित इतिहास के सबसे महान रंगमंच कहा जा सकता है । यह मज़दूरों के नाट्यान्दोलन के रूप में आ गया था । इस तरह बीसवीं शती के प्रारंभिक दशकों में मज़दूरों के करीब पाँच हज़ार नाट्य मंडलियाँ रूस में थीं । येत्सार-शासन को दमन नीति से खामोश लोगों की प्रतिक्रिया को पुन:सक्रिय बनाने के लिए रूपायित नाट्य मंडलियाँ थीं । इन के रूपायन के पीछे कम्यूनिस्ट पार्टी के सातवाँ पार्टी कांग्रेस में लिया गया यह फैसला है कि साहित्य और कला के क्षेत्र में राजनीतिक सन्देशों को प्रस्तुत करनेवाली रचनाएँ की जाएँ । रूस की इन नुक्कड नाट्य मंडलियों का प्रमुख मकसद तो जनता में वर्ग चेतना को जगाना था ।

नुक्कड नाटकों के लिए जर्मनी एक विशाल रंगमंच था । जर्मनी में नुक्कड नाटकों की शुरूआत जीन बाप्टिस्ट बोण स्वैसर के नाटकों से होती है । उन के नाटक "रास्कल" और "ए गूस" जर्मनी भर में मज़दूरों के सम्मेलनों में खेले गए । 1920 में 900 श्रमिकों ने 50000 दर्शकों के सामने "स्पार्टकास" नामक एक नाटक खेला जो जर्मन नाटक के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना रही । 1919 में 800 अभिनेताओं ने "पुवर कोण्ड्राड" नामक एक नाटक खेला था जिसका विषय जर्मनी की किसान क्रांति था । 1922 में एर्विस्ट टोलर ने "रिक्यम आफ दि फ्रेंच रेवलूशन" नामक नाटक प्रस्तुत किया जिसका प्रमुख मुद्दा था कि एक बुर्ज़ुआ क्रांति में श्रमिक वर्ग की भूमिका । 1920 में इर्विन पिस्केटर द्वारा "प्रोलिटेरियन थियटर" की स्थापना हुई जो जर्मनी के सबसे प्रमुख नाट्य मंडलियों में एक थी । फिर "रेड रोकेट", "स्टो टुप आलम", "रेड वेडिंग", रेड मैगा फोन" आदि अनेक नाट्य मंडलियों ने अपनी प्रस्तुतियों के साथ जर्मन जन-मानस को आन्दोलित कर दिया । इन में "रेड रोकेट"

रूस के "ब्लू ब्लाउस" की प्रेरणा पाकर स्थापित एक नाट्य मंडली थी । ब्रेख्त के "एपिक थियटर" का आगमन इसी वक्त में था ।

फिर इस नुक्कड रंगमंच ने कई देशों में पदार्पण किया । स्पेन, वियत्नाम, क्यूबा, फ्रांस, इंग्लण्ड, अमरिका आदि देशों की जनता पर इस नुक्कड नाटक आन्दोलन ने अपना असर डाला । अफ्रीका, लैटिन अमरिका और एशियाई देशों में यह स्वतंत्रता संग्राम का भाग बन गया ।

भारत के नुक्कड नाटकों ने अपनी रूपगत शैली को ज़रूर ही लोक नाटक से ग्रहण किया है । लेकिन दोनों में फर्क तो अपने विषय और आस्वादन के पक्ष पर है । नुक्कड नाटक जनसामान्य को अपने सामाजिक तथा राजनीतिक परिवेश के साथ सतर्क रहने के लिए आह्वान करनेवाला एक आन्दोलन है तो लोक नाटक शुद्ध रूप से जनता के मनोरंजन के लिए होता है । नुक्कड नाटक के भावपक्ष की इस खासियत पर यथार्थवादी नाटकों का स्पष्ट प्रभाव है । एपिक रंगमंच के प्रणेता ब्रेख्त की नाट्य शैली का भी असर इस में स्पष्ट है । हमारे यहाँ नुक्कड नाटक का स्वरूप भले ही सीधा-सादा ब्रेख्त से प्रभावित न हो, फिर भी कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी आयाम पर वह उस से जुडता ज़रूर है । अथवा एपिक थियटर जिस "स्ट्रीट सीन" या "स्ट्रीट कार्नर" का प्रयोग करता है वह नुक्कड नाटक की शैली के नज़दीक आ जाता है ।

ब्रिटिश इंडिया में जन चेतना को जगाने के लिए नुक्कड गायक मंडलियाँ थीं । इसे समाजवादी दल ने संगठित किया था । ये गायक मंडलियाँ उस समय के विद्रोहों के अभिन्न अंग थीं । वे गलियों तथा कारखानों के द्वार पर क्रांति के गीत गा रही थीं । 1940 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी

ने आम लोगों के बीच प्रगतिशील विचारों को पहुँचा देने के उद्देश्य से "भारतीय जन-नाट्य संघ" (इप्टा) की स्थापना की जो भारतीय नुक्कड नाटक के इतिहास में एक महान घटना रही । अकाल के समय इप्टा द्वारा बंगाल के अकालग्रस्त गाँवों तथा रेलवे स्टेशनों में नुक्कड नाटक खेले जाने लगे । इस तरह नुक्कड गायक मंडलियों और नुक्कड नाटक मंडलियों ने पूरे भारत में विशेषकर उत्तर भारत में लोगों के उत्साह को तरंगायित कर दिया ।

1940 से लेकर आज़ादी तक का समय इप्टा का उत्कर्ष काल रहा । लेकिन सांगठनिक बिखराव के कारण आज़ादी के बाद इप्टा का पतन होने लगा । इस के प्रवर्तक अपने-अपने कर्म-क्षेत्रों को चुनते हुए आगे बढे । इप्टा से बिछुडे गए नाटककारों में सबसे प्रमुख व्यक्ति हबीब तनवीर थे । उन्होंने सबसे पहले यथार्थवादी शैली में कई नाटकों का प्रदर्शन किया और बाद में वे परंपरागत लोक नाट्य शैली को अपनाने लगे । उनका "आगरा बाज़ार" पूरी तरह लोकधर्मी नाट्य शैली से जुडा हुआ एक नाटक है । 1960 के आसपास मराठी में विजय तेन्डुलकर, बंगला में बादल सरकार और कन्नड में गिरीश कर्नाड ने पदार्पण किया जिन से अनेक प्रसिद्ध नाटक भारत के नुक्कडों में खेले गए । इन में विजय तेन्डुलकर के "शकुम बिन्दर", "खासीराम कोतवाल", बादल सरकार का "एवम् इन्द्रजित" और गिरीश कर्नाड के "तुगलक", "हयवदन" "ययाती" आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं । लेकिन हिन्दी में इप्टा के ऐतिहासिक सफर के बाद नुक्कड रंगमंच चेतनहीन-सा रह गया । और जब सफदर हाशमी और उनके "जन-नाट्य मंच" (जनम) ने भारतीय नाटक के क्षेत्र में दाखिल किया तब हमारे देश में नुक्कड नाटक ने पूरी तरह एक राजनीतिक तथा सामाजिक हथियार का रूप ले लिया ।

नुक्कड नाटक अपने देश की जनता से प्रतिबद्ध है । भारत जैसे देशों की जनता की वर्तमान दुर्दशा का प्रमुख कारण राजनीतिक

समझदारी या "पोलिटिकल एवेरनेस" की कमी है । जनता में राजनीतिक समझदारी, एक लोकतांत्रिक देश की सफलता का केन्द्र बिन्दु है । जनता को धार्मिक अंधेपन, शैक्षिक पिछडापन आदि बेडियों से मुक्त करके उन के मन में राजनीतिक समझदारी को रूपायित करने में नुक्कड नाटकों में जो क्षमता है वह उनकी जनोन्मुखता तथा जनवादी स्वरूप का परिचायक है ।

सामाजिक मुद्दों पर दर्शकों को उत्तेजित करने, उन्हें सोच विचार करने को विवश करने, इधर अथवा उधर के पक्ष में जाने का निर्णय लेने के लिए प्रेरित करने तथा रंगमंच की रूढियों से मुक्त हो जाने के कारण नुक्कड नाटक सही अर्थों में सार्वजनिक हो गए । नुक्कड नाटकों के पात्र व्यक्ति-विशेष के नहीं अपितु वर्ग-विशेष के प्रतिनिधि हैं । नुक्कड नाटकों में प्राय: सामूहिक संकल्प को व्यक्त करनेवाले सामूहिक गीतों का प्रयोग होता हैं । यह सब नुक्कड नाटक के सार्वजनिक स्वरूप के परिचायक हैं ।

देहात में जन संघर्ष का मोर्चा लगाने के कारण इस का "मोर्चा नाटक" नामकरण भी किया गया है । शोषित जनता को मोर्चाबद्ध करने के लिए आज नक्सलवादी गतिविधियों में लगे लोग इसका इस्तेमाल कर रहे हैं । बिहार, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश और पंजाब में ऐसी नाट्य-मंडलियाँ बहुत सक्रिय हैं । क्षेत्र-विशेष की समस्या, दलितों पर अत्याचार, ज़मीन्दारों द्वारा उन की बस्तो में आग लगाने व उन की बहू-बेटियों की इज्जत लूट लेने की घटनाएँ, खेतिहर मज़दूरों और गरीब किसानों पर अन्याय, जातिवाद और साम्प्रदायिकता की समस्या, किसी सरकारी नीति का विरोध, पुलिस दमन आदि उन के विषय हो सकते हैं ।

नुक्कड नाटक को, वह जनवादी होने की वजह से, जन-विरोधी ताकतों के विरोध का सामना करना पडता है । भारत और विदेश

की कई घटनाएँ इस के लिए गवाही हैं । जर्मनी में "दि इंटर नेशनल रेवलूशनरी थियटर" नामक एक मशहूर नाट्य मंडली थी । इस के खिलाफ फासीवादी ताकतों ने अपना दमनचक्र चलाया । अनेक कलाकारों को देश से निष्कासित किया । कई कार्यकर्ताओं का कत्ल किया । इस के अतिरिक्त "हनस आटो" नामक नाट्य मंडली के एक कलाकार को नात्सियों ने मार डाला जो वामपंथी नाटक कलाकारों के लिए नात्सियों की चेतावनी थी । इस प्रतिकूल परिवेश में कई कलाकार जर्मन नुक्कडों को छोड कर चले ।

भारतीय नुक्कडों की भी हालत भिन्न नहीं है । दिल्ली परिवहन निगम (डी.टी.सी.) द्वारा जब बस किराए में भारी बढोत्तरी की गई तब सफदर और उन के जन-नाट्य मंच, "डी.टी.सी. की धाँधली" नामक नुक्कड नाटक के साथ दिल्ली के सडकों, चौराहों में निकले । एक पूरे सप्ताह में जहाँ कहीं भी उन्होंने खेला, सब कहीं पुलिस ने उन पर अमानवीय हमला ही किया । अभिनेताओं को सडक पर जबरदस्ती से घसीटा गया, अनेकों को मंदिर मार्ग पुलिस स्टेशन में बन्द कर दिया गया । इतना ही नहीं, । जनवरी 1989 को साहिदाबाद में जब "हल्ला बोल" नाटक खेल रहा था तब दिन-दहाडे सफदर पर कातिलाना हमला हुआ और दूसरे दिन भारतीय नुक्कडों के उस महान कलाकार ने आखिरी साँस ली । सफदर और "जनम" का यह अनुभव सिर्फ सफदर और "जनम" का अनुभव नहीं है । नुक्कड नाटकों पर हमला देश भर में घटित होता जा रहा है । केरल में के.जे.बेबी का "नाडु गदिदका" एक सशक्त नुक्कड नाटक था । इस नाटक के अधिकांश अभिनेता आदिवासी थे । इसलिए इस के कलाकारों को उच्चवर्गों के गुंडों तथा पुलिसों का आक्रमण सहना पडा । सभी अभिनेताओं को तीन महीने तक पुलिस थाने में बन्द कर दिया गया । दुर्भाग्य की बात है कि "नाडु गदिदका" जैसे एक महान जनवादी नाटक का केरल की वामपंथी सरकार ने ही बान किया ।

इन घटनाओं से व्यक्त होता है कि नुक्कड नाटक सिर्फ कोई सामान्य-सा नाटक नहीं है, बल्कि दोषी व्यवस्था के प्रति जन-संघर्ष को निदेशित करने का एक ताकतवर माध्यम है । सामाजिक परिवर्तन और सुधार, नाटक की अपनी अहम् भूमिका है । दोषपूर्ण सत्ता और व्यवस्था को सुधारने और अवाम को सही दिशा-निर्देश देने की दृष्टि से उस का महत्व आज भी अक्षुण्ण है ।

हाश्मी के नाटक

नुक्कड नाटक के क्षेत्र में सफदर हाश्मी और जन नाट्य मंच का योगदान विशेष उल्लेखनीय है । हाश्मी एक प्रतिबद्ध नाट्यकार थे । जन जागरण के लिए वे नुक्कड नाटकों से एकाकार हो गए थे । नाटकों को मंच से उतार कर श्रमिक जनता के बीच ले जाने में उनका अविस्मरणीय योगदान है । उनके नाटक पूरी तरह जनवादी चेतना से ओतप्रोत है । समाजवाद - लक्षित क्रांतिकारी चेतना जागृत करना वे अपना सामाजिक उत्तरदायित्व समझते थे । उनके नाटकों में "मशीन", "गाँव से शहर तक", "राजा का बाजा", "अपहरण भाई-चारे का" और "हला बोल" का मंचन कई बार किया गया है जो बहु चर्चित नाटक हैं ।

"गाँव से शहर तक" में सफदर ने भारतीय गाँवों तथा शहरों में चल रहे अमानवीय शोषण का चित्रण किया है । इस नाटक में कलुआ की ज़मीन महाजन और चौधरी छीन लेते हैं और वह नौकरी ढूँढकर शहर आता है तो शहर की स्थिति और भी अधिक दयनीय लगती है । उधर फैक्ट्री मालिक, कालेज की प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष आदि के रूप में अधिकारी वर्ग खडा रहता है । फैक्ट्री मालिक मज़दूरों को दर-दर का भिखारी बनाकर और उनके नेताओं को जेल में भर कर अमानवीय शोषण करते हैं । इस प्रकार सफदर यही

प्रकट करने का प्रयास करता है कि गाँव हो या शहर, शोषक स्वार्थी वर्ग कहीं ज़मीन्दार, कहीं महाजन, कहीं फैक्ट्री मालिक और कहीं कालेज की प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष आदि के रूप में बना हुआ है जो सब सुख-सुविधाओं का उपभोग कर रहा है । दूसरी ओर श्रमिक-सर्वहारा वर्ग परिश्रम करते हुए भी इन से वंचित हैं ।

आज़ादी के नाम पर यहाँ केवल सत्ता परिवर्तन हुआ । व्यवस्था में कोई बदलाव न हुआ । इसलिए सामन्ती शोषण, नौकर शाही, लाल फीता शाही, पूँजीवादी धूर्तता आदि यथापूर्व स्थिति में ही रह गई । वेतन कटौती, महंगाई, भुख-मरी में वृद्धि हुई । बेरोज़गारों की कतार दिन-ब-दिन लंबी हो गई । अमीरों तथा गरीबों के बीच की दरार चौडी हो गई । इस शोषक, अन्यायी व्यवस्था से न्याय की याचना करना व्यर्थ है । इसलिए सूत्रधार देश के श्रमिकों को ललकारता है, उन्हें खुदगर्ज को पहचान कर सावधान सतर्क रहने का सन्देश देता है । श्रमिकों में छिपी हुई शक्ति पर उसे पूरा भरोसा है, इसलिए वह उन्हें उस शक्ति को जागृत कर उसका सदुपयोग करने का सुझाव देता है । वह कहता है -"मेरे देश के आवारा बच्चों, मेरी धरती के लालों, मेरे देश के मज़दूरों - आओ एक जुट हो जाओ और पहचान लो कि केवल एक ही रास्ता है - मेहनतकश एकता का रास्ता ।"[1]

"मशीन" नाटक श्रमिकों के यांत्रिक जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है । इस पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों को इनसान का स्थान नहीं मिल रहा है । वह केवल एक मशीन का पुर्जा है । श्रमिक वर्ग दिन-रात मशीनों के साथ यंत्रवत् काम करते हुए उन मशीनों की तरह घिसता-टूटता

---

1. सफदर हाश्मी - गाँव से शहर तक - पृ. 138

रहता है । और जब उत्पादन की क्षमता नष्ट हो जाती है तब यह मशीन पुर्जा दूर फेंक दिया जाता है । इस मानवीय त्रासदी को बडे ही सशक्त रूप में इस नाटक में उभारा गया है ।

नाटक के आरंभ में सूत्रधार एक मशीन का परिचय करता है । मशीन का हर एक पुर्जा मज़दूर होता है । वे अपनी दयनीय स्थिति का परिचय करते हैं । वे बताते हैं "लाल खाते खाते भेजा खराब हो गया हैं, बताना ही भूल गया है, मैं हूँ क्या भला ? मैं हूँ मज़दूर, मशीन का पुर्जा, काम की चीज़, मगर बेकार की चोज़ ।" अपनी माँगों को प्रस्तुत करनेवाले मज़दूरों के ऊपर मिल मालिक सेक्युरिटी द्वारा लाठीचार्ज करवाता है । फिर मिलिट्री तक को बुलाकर मज़दूरों को दबाता है । बेचारे श्रमिक वर्ग सदियों से इस प्रकार के दबावों से पीडित हैं । देश की पुलिस, मिलिट्री सब मालिकों के पास हैं । नाटककार आशा करता है कि मज़दूर उतना जड नहीं, वे सब अवसर पाते ही एकजुट होकर अधिकारों की लडाई लडते हैं । सेना द्वारा मज़दूरों पर गोली चलाते हुए देखकर सूत्रधार कह उठता है -"और चलाओ गोलियाँ । और बरसाओ आग । लेकिन इन गोलियों से आग बुझेगी नहीं । बढता ही जाएगा संघर्ष का यह दावानल ।" यह नाटक श्रमिकों को उन शोषक तत्वों से विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रेरित करता है । नाटक के अंत में सूत्रधार आह्वान करता है "बढती ही जाएँगी यह इनक्विलाबी वेलियाँ । कौन रोकेगा इन्हें ? कौन रोक सकता है ? मज़दूरों को ? कौन ?.... कौन ? ..... कौन ? "

"अपहरण भाई चारे का" साम्प्रदायिकता की समस्या पर आधारित एक विचारोत्तेजक नुक्कड नाटक है । इस नाटक का हर पात्र प्रतीकात्मक है। साम्प्रदायिकता नामक खतरनाक जानवर की तलाश में भारत में

आनेवाला रिंग मास्टर अमरिकी साम्राज्यवाद का प्रतिनिधित्व करता है । और तीन गुंडे हिन्दू, इस्लाम और सिख धर्म के नेताओं का भी प्रतिनिधित्व करते हैं ।

नाटक के आरंभ में देशवासियों के बीच में से भाई चारे का अपहरण हुआ सुनाई पडता है । और जमूरा जो भाई-चारे को ढूँढने निकलता है, अपना मकसद भूलकर अमरिकी सरकस के मालिक को साम्प्रदायिकता बढ़ाने के लिए हिन्दू सेना भवन, फौज इस्लाम भवन और सिख सेना भवन से परिचय कर देता है । साम्प्रदायिकता को बढाने के लिए अमरिकी रिंग मास्टर इन तीनों सेनाओं को डोलर देता है । और विभिन्न धर्मवाले एक दूसरे को कत्ल करना शुरू करता है । नाटक के अंत में रस्सियों में बन्धा हुआ भाई चारा आता है । उसको रस्सियों में थामे हैं रिंग मास्टर और तीनों गुंडे ।

यह नाटक धर्म के कुत्सित रूप से जनसाधारण को अगाह करता है तथा भ्रातृत्व का संदेश देता है । धर्म ने मनुष्यरूपी जानवर को नैतिकता सिखा कर इनसान में तब्दील किया और सब कहीं धर्म मनुष्य को फिर से जानवर में तब्दील कर देता है । इन साम्प्रदायिक संघर्षों से जनसाधारण की सामूहिक शक्ति विश्रृंखलित हो जाती है । परिणाम स्वरूप शोषकों के विरुद्ध एकजुट नहीं हो सकते हैं । इसलिए वे अपने अनिवार्य एवं वास्तविक साहस से दूर चले जाते हैं । इसके मुनाफा शोषकों के पास पहुँचता है ।

"राजा का बाजा" भ्रष्टाचार को फर्दाफाश करनेवाला एक नाटक है । जिसके पास दौलत और ताकत होती है उसको यहाँ शिक्षा करने के लिए मौका मिल जाती है । जिसके पास दौलत और ताकत होती है उसी को हो नौकरी मिल जाती है । यही इस नाटक द्वारा विदित होता है । आज की शिक्षा संस्थाएँ भ्रष्टाचार के केन्द्र बन गए हैं । इन संस्थाओं में

सिफारिश का बोलबाला हो गया है । राजनैतिक हस्ताक्षेप प्रबन्ध समितियों की स्वेच्छाचारिता प्रशासनिक अव्यवस्था, प्राध्यापकों की स्वार्थपूर्ण उदासीनता, आदि बुराईयों से हमारी शिक्षा संस्थाएँ कलुषित हो गई है । शिक्षा प्राप्त करने के बाद जब नौकरी ढूँढकर निकलता है तब स्थिति और अधिक शोचनीय लग जाती है । इस नाटक में यह प्रदर्शित किया गया है कि पाँच दानव जो कभी प्राध्यापक के रूप में प्रकट होते हैं, कहीं नौकरी दिलवानेवाले अधिकारी के रूप में । एक पात्र रामेश्वर अपना अनुभव दर्शकों को सुनाता है "मैं ने तीस इंटर्व्यू दिए हैं । तीसों बार मुझसे ऐसे सवाल पूछे गए जिनका मेरी पढ़ाई से कोई संबंध नहीं था । तीसों बार मैं नाकामयाब ही लौटा । तीसों बार नौकरी सिफारिशी आदमी को मिली ।

"हला बोल" हाश्मी का एक बहुचर्चित नाटक है । यह पूरी तरह जनवादी है । यह जन साधारण एवं श्रमिक वर्ग की मैली हुई जिन्दगी पर प्रकाश डालता है । यह नाटक उन्हें आन्दोलित करनेवाला है जो अपने शोषकों के विरुद्ध दावा बोलने के लिए उकसाता है ।

इस नाटक में श्रमिक संगठन के महत्व के बारे में बताया गया है । नाटक में सूत्रधार सावधान करता हुआ कहता है कि "जिन फैक्ट्रियों में यूनियन नहीं है वहाँ के पक्के मज़दूरों का भी यही हाल है - मालिक 562 पर अंगुठा लगवाकर 300-400 पकडा देता है ।" यह नाटक सी आई टी यू में शामिल होने के लिए आह्वान करता है । इसमें पुलिस की भूमिका पर भी प्रश्न उठाया है । पुलिस सरकार के गुंडे हैं । जब कभी जनता अपनी माँगों को दिखाकर आवाज़ उठाती है तब पुलिस उधर हस्तक्षेप करता है ।

नाटक में पुलिस से जोगो कह उठता है, "एक नहीं, हज़ार लाठी - डंडे बरसाओ, आज मैं चुप नहीं रहूँगा । इस देश का मज़दूर चुप नहीं रहेगा । जो मज़दूर जान गंवाने से नहीं डरता, वो लाठी से क्या डरेगा ?"

"हल्ला बोल" सामान्य जनता को आन्दोलित करने में सफल निकला है । यह नाटक अनेक बार विभिन्न औद्योगिक स्थानों के प्रांगणों तथा श्रमिक बस्तियों में खेला गया है । यह नाटक अत्यंत प्रभावशाली एवं शोषक वर्ग पर इतना प्रभाव डालने में सक्षम था कि साहिदाबाद में 1989 के पहले दिन दोपहर को इस नाटक के प्रस्तुतीकरण के समय सफदर पर दिन दहाड़े हमला किया गया । दूसरे दिन दस बजे उन्होंने आखिरी साँस ली ।

अध्याय : तीन

आपात कालीन परिवेश में नाटकों में अभिव्यक्त जनवादी चेतना

आपातकाल पर विचार करने के पहले आपातकाल के पूर्व की राजनीतिक परिस्थितियों पर ज़रा नज़र डालना ज़रूरी है । स्वतंत्रता संग्राम के अवसर पर पूरे भारतवासियों के मन में एक सुवर्ण सपना था कि अंग्रेज़ों को यहाँ से खदेड़ने पर ऐसी एक नई व्यवस्था आएगी जिसमें जनता स्वतंत्र एवं आनन्दपूर्ण ज़िन्दगी बिता सकेंगी । मगर 1947 के बाद यह सपना टूट गया । केवल सत्ता हस्तान्तरण के अतिरिक्त और कुछ न घटित हुआ । व्यवस्था वैसी ही अपरिवर्तित रह गयी । समय के बीत जाने पर यह स्पष्ट हो गया कि देश में व्याप्त राजनीति के वर्तमान स्वरूप के अपरिवर्तित रहने से यहाँ की समस्याओं का हल नहीं हो सकता । संविधान द्वारा नागरिकों को स्वतंत्रता, समानता, न्याय तथा रोज़गार के समान अवसर उपलब्ध कराने का वचन दिया गया है । लेकिन आम आदमी के लिए ये सब अनुपलब्ध ही रह गये । आज़ादी के बाद भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद खूब पनपने लगे । राजनीतिक दल देश की सत्ता हासिल करने के लिए देश सेवा से विचलित होकर अपने-अपने वोट बैंकों के निर्माण में लगे रहने लगे ।

आज़ादी मिलने पर शासन-तंत्र का बागडोर कांग्रेस पार्टी के हाथों आ गया । कांग्रेस के नेतृत्व में जब भारत ने एक स्वदेशी शासन का शुभारंभ किया तब एक बड़ी भूल हुई कि उसकी सांविधानिक ढाँचा पश्चिम की नकल थी और व्यवहार में भी अंग्रेज़ी शासन काल के कानून-नियम यहाँ लागू कर दिए गए । उस समय बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने तथा ज़मीन्दारी उन्मूलन करने जैसे साहसिक कदम उठाए गए, मगर आम जनता को इन से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ । जनता का आक्रोश बढ़ता चला गया और 1969 में वह नक्सलवादी आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ । यह आन्दोलन मार्क्सवादी - लेनिनवादी - माओवादी विचारधारा से प्रभावित था ।[1] इस आन्दोलन

---

1. देव किशन चौहान - समसामयिक नाटकों में वर्ग चेतना - पृ. 98

को कुचलने के लिए नृशंस दमनचक्र चलाया गया । सन् 1971 में इन्दिरागांधी भारत का प्रधानमंत्री बनी । उनके शासनकाल में 1971 में ही जनता का ध्यान बंटाने के लिए पाकिस्तान के साथ एक युद्ध लडा । और पाकिस्तान को विभक्त कर डाला । लेकिन भारत की भीतरी हालत बदतर होती जा रही थी । महंगाई, मुद्रास्फीति, बढती जा रही थी, सरकारी कर्मचारियों में अकर्मण्यता तथा भ्रष्टाचार की इफारत थी और सर्वोपरि राजनीतिक निरंकुशता अनियंत्रित होती जा रही थी । सरकार की आलोचना करनेवालों को असामाजिक घोषित करके दबाया जाने लगा ।

इस तरह भारतीय प्रशासन का वातावरण बहुत ही दूषित हो गया । यह देखकर देश के कुछ महान व्यक्ति उसे संशुद्ध बनाने के लिए आगे बढे । उन में लोकनायक जयप्रकाश नारायण ही प्रमुख था । उन्होंने संपूर्ण क्रांति का आह्वान करते हुए देशव्यापी आन्दोलन छेड दिया । उन्होंने घोषणा की कि स्वच्छ प्रशासन की स्थापना हेतु भ्रष्टाचार का उन्मूलन किया जाना चाहिए तथा मतदाताओं को उसकी समाजविरोधी गतिविधियों के कारण वापस बुलाने का अधिकार होना चाहिए । इसी दौरान इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने श्रीमती इंदिरा गांधी के चुनाव को अवैध ठहरा दिया । अपने विरुद्ध निरंतर बढते जनाक्रोश का सामना करने के लिए 25 जून 1975 को देश में आपात स्थिति घोषित कर दी गई । आपातकाल लागू होते ही अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का हनन होने लगा । कई पत्रकार और साहित्यकारों को रातों रात जेल की सलाखों में बन्द कर दिया गया । अमानवीय पुलिस - प्रशासन एवं लाठी-गोली के बल पर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की बोलती बन्द करने का भरसक प्रयास किया गया । प्रसार के माध्यम महज सरकार के हाथों का "मैगा फोन" बन गए । यही कारण था

---

1. देव किशन चौहान - समसामयिक नाटकों में वर्ग चेतना - पृ. 98

कि आपातकाल के दौरान घटित घटनाएँ, जिन में बहुत से बेगुनाहों की हत्याएँ भी थी, लोगों तक नहीं पहुँच सके । "वस्तुत: प्रचार माध्यमों के इस अनुचित प्रयोग से भयभीत होकर ही जनतादल ने अपने घोषणा-पत्र में रेडियो और टेलिविज़न को स्वायत्त बनाने की घोषणा करनी पडी ।[1] आज़ादी के तेईस सालों के बाद आए आपातकाल के उन काले दिनों ने हिन्दी नाट्यकारों को सर्वाधिक प्रभावित किया ।

आपातकाल की घोषणा के साथ-साथ यहाँ की लोकशाही एकदम तानाशाही में तब्दील हो गयी । जनता के अधिकार पूरी तरह छीन लिए गए । लोगों की फुसफुसाहट तक को राजद्रोह की संज्ञा दी जाती थी, राजनीति के क्षेत्र में मौकापरस्तों की शुमार बढ़ने लगी । साहित्य और कला के क्षेत्र में अभिव्यक्ति की स्वाधीनता पूरी तरह नष्ट हो गई । अभिव्यक्ति की आज़ादी का स्वाहा लेखक और रचनाकारों के लिए सबसे खतरनाक है । अभिव्यक्ति की आज़ादी रचनाकार के लिए प्राणवायु के समान अमूल्य है । विश्वनाथ तिवारी की राय में -"स्वतंत्रता सर्जनात्मकता का पर्याय है, जो स्वतंत्र नहीं होता वह सर्जक भी नहीं हो सकता । दुनिया में जो कुछ भी सर्जन संभव हुआ है वह स्वतंत्रता के कारण है । स्वतंत्रता से वंचित कला अंधी और गूँगी है । लेखक समाज की आँख होता है । उसकी अभिव्यक्ति को प्रतिबंधित करना अन्तत: समाज की चिन्तन और जीवन धारा को अवरुद्ध करना है ।"[2] ईमानदार और अभिव्यक्ति के प्रति निष्ठावान लेखक, तानाशाही सत्ता से शोषित आम जनता के प्रवक्ता के रूप में ही खडे होते हैं । सर्जक की यह मनोवृत्ति सत्ता को तनिक भी न भाती । यहाँ सत्ता और रचनाकार के बीच द्वन्द्व शुरू होता है ।

---

1. समसामयिक नाटकों में वर्ग चेतना - पृ. 157
2. लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता - विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - पृ. 111

सर्वोपरि भारत की अभावग्रस्त जनता एक ओर सत्ता की दमन-नीति से और दूसरी ओर अपनी गरीबी से अत्यंत पीडित हो गई । सुशीलकुमार सिंह, शरद जोशी, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, ब्रजमोहन शाह, भीष्म साहनी, लक्ष्मीनारायण लाल जैसे नाट्यकारों ने आपात्कालीन परिवेश में अपने अधिकारों से वंचित, अवसरवादी राजनेताओं के झूठे नारों से प्रभावित, सत्ता की निरंकुश दमन-नीति से पीडित एवं गरीबी से हताहत जनता की त्रासदी को व्यक्त करने का प्रयास किया है । साथ ही साथ जन-शक्ति को बढ़ावा देने का भी प्रयास उनके नाटकों में दृष्टव्य है । इसलिए ये नाटक जनवादी चेतना को उजागर करने में सफल निकले भी हैं ।

बर्बर और अमानवीय शासन-नीतियों का पर्दाफाश

आपातकाल अमानवीय शासन नियमों का काल था । जनता को सत्ता लोलुप शासकों की बर्बर करतूतों का कटु फल भोगना पडा । उस समय माँ-बेटे का सिर-फिरा खेल ज़ारी रहा था । उस खेल से भारतीय जनता पीडित होने लगी । गिरिराज किशोर का "प्रजा ही रहने दो", सुशील कुमार सिंह का "नागपाश" शरद जोशी कृत "अंधों का हाथी" सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का "अब गरीबी हटाओ", ब्रजमोहन शाह का त्रिशंकु, भीष्म साहनी का "कबिरा खडा बाज़ार में", लक्ष्मीनारायण लाल का "नरसिंह कथा" जैसे नाटकों में इन बर्बर और अमानवीय शासन नीतियों का पर्दाफाश हुआ है ।

इन में "प्रजा हो रहने दो" यद्यपि आपातकाल के पूर्व रचित नाटक है तो भी इस में आपातकाल की सारी परिस्थितियों का असली चित्रण मिलता है । इसलिए प्रस्तुत नाटक को हम आपातकाल के पैगम्बर के रूप में मान सकते हैं । महाभारत कालीन पृष्ठभूमि रचित प्रस्तुत नाटक में सत्तालिप्सा पारिवारिक मोहग्रस्तता, अंधे शासन तंत्र में जनता की कष्टपूर्ण ज़िन्दगी,

सत्तालोलुप शासकों की दमन नीति आदि चित्रित है । सब कहीं गरीबी और भुखमरी है और दूसरी तरफ शासक वर्ग अपने परिवार में सत्ता को बनाए रखने के लिए राजनीतिकजुआ खेल में लगा रहता है । सत्ता मोह की इस क्रीडा के खिलाफ जो आदमी आवाज़ उठाता है उसको कडी से कडी सजा देने के लिए राजाज्ञा है । इस तरह अवाम की असली समस्याओं को अनदेखा करते हुए विरोध की आवाज़ को न्यायशून्य आदेशों द्वारा दबानेवाली शासक-मनोवृत्ति इस नाटक में चित्रित है । नाटक का एक नागरिक अपने साथी से यों कह रहा है -"मत बोलो, मुख मत खोलो । बोलना किसी शासक को पसन्द नहीं होता ।"[1]

इस तरह शासकों की दमन नीति का चित्रण बहुत ही प्रभावशाली ढंग से इसमें किया गया है । महाभारत युद्ध के उतार-चढ़ाव और अंतिम परिणति को आम आदमी की नज़रिये से देखने का प्रयास ही प्रस्तुत नाटक में हुआ है ।

आपातकाल के दौरान यहाँ पुलिस प्रशासन की क्रूरता चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी । "प्रजा ही रहने दो" के अलावा सुशील कुमारसिंह का नागपाश, भीष्म साहनी का कबिरा खडा बाज़ार में, लक्ष्मीनारायण लाल का नरसिंह कथा जैसे नाटकों में तानाशाही व्यवस्था में जनता को आवाज़हीन बनाने में पुलिस को भूमिका रेखांकित की गई है ।

पुलिस दमन के क्रूरतम दृश्यों को हमारे सामने लानेवाला एक अशक्त व्यंग्य नाटक है सुशीलकुमार सिंह का "नागपाश" । इस में नागपाश आपात स्थिति का प्रतीक है । आपातकाल के दौरान पुलिस अपनी क्रूरता

---

1. गिरिराज किशोर - प्रजा ही रहने दो - पृ.11

की उच्चतम चोटी पर चढ़ गयी थी । इस में कैदियों को उल्टा करके पंखे से लटका कर जूते से मारना, नंगा करके टांगों के बीच मिर्च भर देना, नाखुन उखाड देना आदि से लेकर शेर के आगे डाल देने तक के दमन के नए-नए तरकीबों को दिखाया गया है ।

भीष्म साहनी कृत "कबिरा खडा बाज़ार में" कबीरदास के क्रांतिकारी व्यक्तित्व को उजागर करता है । प्रस्तुत नाटक में कबीरदास हमेशा शोषितों-पीडितों के हिमायत खडे होकर सब प्रकार के धार्मिक तथा राजनीतिक शोषणों के विरोध में आवाज़ उठाता है । यहाँ कबीरदास को भी शासकों की तरफ से दंड भोगना पडा । मौजूदा व्यवस्था के खिलाफ आवाज़ उठानेवाले कबीर की बस्ती में आग लगाई जाती है, उन्हें हाथ पैर बाँधकर नदी में फेंक दिया जाता है और यहाँ तक अपने पदों को गाकर घूमनेवाले एक अंधे भिखारी का कत्ल भी किया जाता है । लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक "नरसिंह कथा" में भी हम इस तरह की बर्बरतापूर्ण नीतियों के दृश्य देख सकते हैं । प्रस्तुत नाटक में नरसिंह की पौराणिक कथा के माध्यम से तानाशाही व्यवस्था के खिलाफ जनचेतना के जागरण का चित्र प्रस्तुत हुआ है । यहाँ हिरण्यकशिपु एक तानाशाह है और उनका पुत्र प्रह्लाद उनके खिलाफ जनचेतना को जगाकर तानाशाही का अंत कर देता है । यहाँ नरसिंह को एक पौराणिक पात्र के स्तर से बदलकर जनचेतना का प्रतीक बनाया गया है । प्रह्लाद जनता के पक्ष लेकर जब हिरण्यकशिपु के निरंकुश शासन का विरोध करता है तब उसको भी व्यवस्था की तरफ से कई यातनाएँ भोगनी पडती है । इधर हिरण्यकशिपु अपने पुत्र का कत्ल कर डालने के लिए प्रयास करता है, कई प्रकार की योजनाएँ बनाता है । प्रह्लाद के पक्ष में जानेवाले सभी को राजद्रोही ठहराकर जेल में भर देता है । दरअसल आपातकाल के दौरान जनता की फुसफुसाहट तक को राज द्रोह समझा

जाता था । सत्ता के मुखालिफ जो आवाज़ उठाते थे उन्हें बिना मुकदमा के जेल में बंद किए गए थे । सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाटक "अब गरीबी हटाओ" में भी ऐसे कई दृश्य दृष्टव्य है । देश पर गरीबी बढ़ रही हैं, सब कहीं भुखमरी हो रही है । जनता अपनी बुनियादी ज़रूरतों से वंचित रहकर जानवरों को-सी ज़िन्दगी जी रही है । तब एक ओर "गरीबी हटाओ" का नारा लगाकर शासक वर्ग जनता को भ्रमित करता है और दूसरी ओर सरकार से माँग करनेवालों को निर्दय रूप से सरकारी मशीनरियों के ज़रिए रौंद दिया जाता है । एक ग्रामीण युवती के पति को सरकार के विरुद्ध आवाज़ उठाने के नाम पर कैदी बनाया जाता है और दारोगा तथा सरपंच उस युवती को बलात्कार करते हैं । इस तरह पुलिस दमन का क्रूरतम चेहरा आपातकाल में देश भर में दिखाई पडा था ।

आपातकाल के समय इंदिरागाँधी और अपने बेटा संजय गाँधी के कई ख़ूनी खेल चलते रहे । माँ ने जब आर्थिक सुधारों के नाम पर बीससूत्री कार्यक्रम दिया तो बेटे ने पाँच-सूत्री कार्यक्रम घोषित कर दिया । लेकिन इन कार्यक्रमों का जनता की भलाई से कोई सरोकार नहीं था । शहर सुन्दरीकरण के नाम पर दिल्ली की कई बस्तियों के बाशिन्दों को अपनी सारी कुटीर-सामग्रियों को कुचलकर निर्दय रूप से वहाँ से हटाया । क्वाटा न पूरा किए तो अपनी नौकरी रद्द करने की धमकियाँ देकर कर्मचारियों के द्वारा हज़ारों लाखों बेचारों का वन्ध्यीकरण जबरदस्त करवाया गया । यह सब आपातकाल के शासन की बर्बरता की गवाह है । "नागपाश" नाटक में जबरदस्त वन्ध्यीकरण करने और नगर सुन्दरीकरण के नाम पर बस्तियों को तोड डालने के दृश्य मौजूद हैं ।

आपातकालीन शासन तंत्र की बर्बरता को परिचित करानेवाला सबसे बडा उदाहरण यह है कि उस वक्त नौकरशाही और पुलिस के सामने

जनता या न्यायालय में चुप्पी साधनी पड़ी । पुलिस और नौकरशाही की मनमानी सहते हुए जनता और न्यायालय को गुलाम की तरह अपना मुँह बन्द करके रहना पड़ा।न्याय-व्यवस्था की इस त्रासदी को उजागर करने में "नाग पाश" सफल निकला है । संविधान के बयालीसवाँ संशोधन ने भारतीय न्याय व्यवस्था के कई अधिकारों को कम कर दिया । व्यक्ति के अधिकारों के नाम पर सामाजिक तथा आर्थिक कानूनों के निर्माण में बाधा डालने से न्याय मूर्तियों को रोकना ही इस संशोधन का प्रमुख मकसद था ।[1] नागपाश में एक स्त्री जो भारत का प्रतीक है, न्यायमूर्ति के सामने अपना फरियाद पेश करने आती है । वह जज साहब से कहती है, "सैकड़ों साल की गुलामी के बाद मुझे खुली हवा में साँस लेने का मौका मिला, लेकिन अभी मैं खुलकर सांस न ले पाई थी कि मुझे फिर जकड़ दिया गया, कैद कर दिया गया और जानते हैं हुज़ूर जज साहब ! इस बार मुझे जंजीरों में जकड़नेवाला कोई विदेशी नहीं था वह लोग थे जिन्होंने मेरी सुरक्षा का जिम्मेदार बनाया गया था । मेरे अपने लोग.... उन्होंने मुझे वेश्या की तरह इस्तेमाल किया, जब जी चाहा, रौंदा, कुचला.... मसला बलात्कार किया । मेरे नाम पर मनमाने अत्याचार किए और ... और जब इस से भी जी नहीं भरा तो मुझे खुद तानाशाही का नंगा नाच करने ले.... "[2] लेकिन न्यायमूर्ति असहाय होकर कह रहे हैं कि वे अब केवल एक सरकारी कुत्ता है जिसके गले में सरकार का अंकुश लगा हुआ है । न्यायमूर्ति कहते हैं, "मेरे पास न्याय की दुहाई लेकर मत आओ । मैं न्यायमूर्ति नहीं, नागमूर्ति हूँ । नागपाश की कुंडली में जकड़ा हुआ .... मैं न्याय नहीं दे सकता....ज़हर उगल सकता हूँ सिर्फ ज़हर... जाओ, बचना चाहते हो तो मुझ से दूर चले जाओ ।"[3]

---

1. इंडिया : अर्धरात्रिमुतल अरानूट्टाण्ड - शशि तरूर -
2. नागपाश - सुशीलकुमार सिंह - पृ.43
3. वही - पृ.46

अमानवीय राजनीतिक परिवेश से उत्पीडित आमजनता के प्रति अपना दायित्व निभाते रहे भारतेन्दु जैसे सजग धर्मियों ने "अंधेर नगरी" नाटक से बर्बर और अमानवीय शासन-नीतियों पर तीखा प्रहार किया था । ऊपर कही हुई बातों से होकर आज की सत्ता उस अंधेर नगरी के चौपट राजा और उनकी शासन-नीतियों की दुहाई कर रही है । किसी भी बर्बर व्यवस्था में आम आदमी की हालत उस गोवर्धनदास की जैसी है जिसे बिना अपराध किए सजा चुपचाप कबूल करनी पडी । आपातकाल का वह बर्बर प्रशासन तंत्र सचमुच हमें अन्धेर नगरी की याद दिलाती है ।

अवसरवादी राजनीति का घृणित खेल

जहाँ राजनेता के मन में देश-सेवा की भावना खतम हो जाती है और सत्ता ही एकमात्र मकसद बन जाता है वहाँ अवसरवादिता उत्पन्न हो जाती है । तब किसी तरह कुरसी हासिल करना ही परम लक्ष्य हो जाता है । इसलिए वे अपने तमाम आदर्शों को खो कर दलबदल की घृणित प्रक्रिया में शामिल हो जाते हैं ।

आपातकाल के अवसर पर भारतीय राजनीति में मौकापरस्तों का इजाफा होने लगा । राजनेता अपने मौके के माकूल झूठे नारों से जनता को भ्रमित करने लगे । सियासती दलों के बीच दलबदल की प्रवृत्ति भी इस अवधि में दिखाई पडने लगी । "गरीबी हटाओ" जैसे झूठे नारों को लेकर राजनेता जनता के बीच निकले । सत्ताधारी कांग्रेस का नेतृ-वर्ग निर्लज्ज होकर जनता की गरीबी को मिटाने के पहले अपनी गरीबी मिटाने की योजनाएँ निस्संकोच से करने लगा । सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाटक "गरीबी हटाओ" इस मुद्दे को रंगमंच पर लाता है । उस में देश को शासन के दुर्बल घोडे पर सवार दिखाया गया है जो चलने का दिखावा मात्र करता है । जन-कल्याण की

कोशिशों मात्र इमारतों, कमीशनों और मौखिक लिखा-पढ़ी तक सीमित रह जाती हैं । ये कार्य संचालन करनेवाले अपने अवसर के अनुकूल वचन बदलाते रहते हैं । तत्कालीन राजनीति को दलबदल को प्रवृत्ति बहुत गंदी बनाने लगी । उस समय दलबदलुओं की शुमार बहुत ही बढ़ी हुई हालत में थी । तत्कालीन नाटकों में इन मौकापरस्तों की राजनीतिक पैंतरेबाजी को जनता के सामने खोल दिखाने का खूब प्रयास हुआ है ।

सन् 1971 तक आते-आते जनता को राजनीतिक दलों में आस्था कम होने लगी । एक तरफ देश में बढ़ती महंगाई, बेरोज़गारी और भुखमरी है तो दूसरी तरफ मंत्रियों के ठाट-बाट और फिज़ूल-खर्ची देखकर लोगों को आज़ादी के स्वप्न टूट जाते महसूस होने लगे । राजनीति के प्रति असन्तोष फैलने लगा । तब राजनेता भ्रमपूर्ण नारों से जनता को आकर्षित करने लगे । जनता ने इन सम्मोहन मंत्र के प्रभाव में अपने वोटों से सत्ता दल की झोली भर दी । लेकिन बाद में इन नारों का खोखलापन जनता के सामने नज़र आने लगा । सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के "गरीबी हटाओ" में एक नेता, सम्मेलन में अपने मतदाताओं को संबोधित करते हुए उस समाज से गरीबी दूर करने का वायदा देता है । लेकिन गरीबी नहीं दूर हो जाती । वह पूर्वाधिक ताकत से उभर ही आती है । नाटक में मध्यकालीन राजशासन का चित्र भी है । मध्यकालीन राजशासन और आधुनिक जनतंत्र दोनों को प्रस्तुत करते हुए नाटककार यही साबित करता है कि प्रत्येक ज़माने में सत्ताधारी वर्ग अपनी सत्ता को बरकरार रखने की खातिर अवसरोचित नारों को उगलाकर जनता को भ्रमित करता है । लेकिन अंत में जनता खुद महसूस कर लेती है कि समाज से गरीबी को असली ढंग से दूर करना है तो जनता को एकजुट होना ज़रूरी है ।

ब्रजमोहन शाह कृत नाटक "त्रिशंकु" में भी इस राजनीतिक पैंतरेबाज़ी का चित्र प्रस्तुत किया गया है । भारत के सियासती नेता किस प्रकार भ्रमपूर्ण नारों से आम लोगों को प्रलोभित करते है और बेरोज़गार युवकों को गुमराह करके अपना उल्लू सीधा करते हैं, उसका स्पष्ट और व्यंग्यात्मक चित्रण इस में हुआ है । देश में फैली हुई बेरोज़गारी की समस्या और गरीबी के बारे में अपनी चिंता व्यक्त करते हुए इस नाटक का नेता एक बेरोज़गार युवक से कहता है -"हम जानते है - अमीरी गरीबी, मुल्क की सबसे बडी समस्या है, शत्रु है । यह खत्म होनी ही चाहिए । इसलिए कहते हैं, गरीबी हटाओ"[1]

दलबदल की प्रवृत्ति मौकापरस्ती का एक उच्चतम नमूना है । चुनाव जीतने के लिए अनेक प्रकार के वायदे किए जाते हैं, तरह-तरह की आकर्षक घोषणाएँ की जाती हैं - हर बार नई-नई घोषणाएँ । दरअसल ये वायदे तो पूरा करने के लिए नहीं बल्कि जनता को बहकावे में डालकर अपनी कुरसी और नेतागिरी कायम रखने के लिए किए जाते हैं ।

भारत के सियासती परिवेश में जब मूल्य विघटन होने लगा तो दलबदल की प्रवृत्ति भी उतनी बुरी नहीं मानी जाने लगी । "त्रिशंकु" नाटक के नेता के इस कथन से यह स्पष्ट हो जायेगा । उनका कहना है - "अरे भाई, यही तो राजनीति के पैंतरे हैं । जब-जब हम देखते हैं, इस दल से देश का भला नहीं होगा तो हम झट से दलबदलकर दूसरे दल में चले जाते हैं । देश की खुशहाली के लिए तीन क्या, हम सौ दल बदल सकते हैं ।"[2] प्रस्तुत नाटक में दलबदलुओं पर तीखा व्यंग्य किया गया है । जैसे कि एक

---

1. त्रिशंकु - ब्रजमोहन शाह - पृ. 88
2. वही - पृ. 27

आदमी दूसरे से पूछता है - "दलबदलुओं की बात कौन सुनेगा ? " तब दूसरा आदमी जवाब देता है कि "जिसका कोई सिद्धांत नहीं । इस वक्त लीडर स्पष्ट करता है, "आप में राजनीतिक चेतना की कमी है । अरे भाई, जनता के भले के लिए दलबदलना भी सिद्धांत है । हम तो जनता की भलाई के लिए दल और सिद्धांत तो क्या, काया तक बदल सकते हैं ।"[1] लक्ष्मीनारायण लाल के "अब्दुल्ला दीवाना" भी दलबदलनेवाले आज के हमारे नेताओं का मुखौटा उतार फेंकता है । इसमें चपरासी कहता है, "जी हाँ, पहले वह तिरंगे कपडे पहनता था... फिर लाल, सफेद, फिर काला, फिर लाल, फिर पीला और गुस्आ । फिर आने लगा, जाने लगा - आये राम गए राम ।"[2] आए राम गए राम तो उस समय एक कहावत था कि उस समय के एक राजनेता थे जिसका नाम था राम जो दिन-प्रतिदिन अपने दल को बदलते रहे थे । आए राम गए रामों की उस राजनीति में जनता की आशा आकाँक्षाएँ टूट रही थी ।

विभिन्न दलों के ही नहीं, एक ही दल के नेतागण भी किसी एक मुद्दे पर एकमत नहीं हो पाते । वे व्यक्तिगत स्वार्थ और सत्ता-मोह के खातिर अंतहीन बहसों में उलझे रहते हैं । वे हमेशा व्यर्थ के तर्क-वितर्कों से जनता को भ्रमित करते हैं । ऐसे नेतृवर्ग देश या जनता की असली समस्या को देखने, समझने या माकूल हल को ढूँढ निकालने के बदले अपने-अपने वादों के संकुचित चश्मे लगाकर ही समस्या पर नज़र डालते हैं । शरद जोशी का नाटक "अंधों का हाथी" व्यंग्यात्मक शैली में इस समस्या पर ज़रा दृष्टिपात करता है । प्रस्तुत नाटक में जो हाथी है वह देश की समस्या रूपी हाथी है । नाटक के पाँच अँधे देश के राजनेता हैं । चुनाव के वक्त वोट इकट्ठा करने के लिए वे हाथी को समस्या का समाधान ढूँढ निकालने का वादा करते हैं ।

---

1. त्रिशंकु - ब्रजमोहन शाह - पृ. 86
2. अब्दुल्ला दीवाना - लक्ष्मीनारायण लाल - पृ. 82

जनता उन्हें वोट देकर हाथी को निपटाने के लिए निर्वाचित करती है । लेकिन ये अंधे राजनेता, हाथी को असली रूप में समझने के बदले, अपने-अपने विभिन्न वादों की नज़रिए से देखते हैं । कुछ लोग हाथी को दीवार समझते है, कुछ लोग अजगर समझते हैं और कुछ लोग सूप या खंभा । समस्या को असलियत के साथ समझने की कोशिश किसी की तरफ से नहीं होती । वे लोग अपने-अपने सीमित मूर्खतापूर्ण वादों को जबरदस्त पकडते हुए जनता को भी अंधा बनाना चाहते हैं । नाटककार अपनी व्यंग्यात्मक शैली में हाथी जैसी समस्या के दृष्टांत से इन मौकापरस्ती नेताओं को दीवार पंथी, खंभा पंथी, सूप पंथी या दीवारवादी, खंभावादी या अजगरवादी नाम देते हैं ।

इन मौकापरस्तों के सियासत में जन-सामान्य की आशा-आकांक्षाएँ रौंद डाली जाती हैं । अपने स्वार्थ लाभ के लिए महत्वाकांक्षी नेता अवसर पाते ही दूसरे दल में जा मिलते हैं । चुनाव लड़ते वक्त जनता को दिया गया वचन यहाँ टूट जाता है । अथवा चुनाव जीतने पर जनता और नेता के बीच का सरोकार नष्ट हो जाता है । उधर केवल नेता और अपना स्वार्थ ही रह जाते हैं । ऐसे नेता डेमोक्रसी के आदर्शों को पूरी तरह मिट्टी में मिलाते हैं । वे या तो दूसरे दल में जा मिलते हैं या दूसरे नए दल का निर्माण कर लेते हैं । कभी-कभी सौदाबाजी करके ऐसे नेता लाखों करोडों रूपए भी बटोर लेते हैं । बड़े-बड़े पूँजीपति अपने वर्ग हितों की हिफाज़त के लिए इस कार्य में अपनी भूमिकाएँ निभाते हैं । यहाँ नष्ट हो जाती है जनता की आकांक्षाएँ, जनवाद के आदर्श और जनता के अधिकार । सरकार चलती है, उन पूँजीपतियों की आशा-आकांक्षाओं के माकूल । इसलिए एक पूँजीवादी व्यवस्था में निष्पक्ष, स्वच्छ और न्यायपूर्ण सरकार की आशा करना व्यर्थ की बात है । सत्ता और दौलत इन राजनेताओं को मौकापरस्त बनाती है । दलबदल की प्रवृत्ति पूँजीपतियों और राजनेताओं के गल-बाही संबंध का दुष्परिणाम है । इधर राजनेता दलाली का कार्य करते हैं । वे वोट के

माध्यम से जनता के हाथों से अपनी सत्ता छीन लेते हैं और दूसरी ओर पूँजीपतियों से दौलत भी । वे लोग अच्छी तरह जानते हैं कि पूँजीपति से धन बटोरने से भी आसान है, जनता के मत प्राप्त करके कुरसी हासिल करना । क्योंकि अभावग्रस्त, गरीब लोगों को चाहिए केवल मनोमोहक घोषणाएँ । यही मौकापरस्ती राजनीति की बुनियाद है । इसलिए जनता को चाहिए अपनी संगठित ताकत पर भरोसा रखे । जनता के वोट के बल पर गद्दी में बैठते हुए पूँजीपति वर्ग के लिए दलाली करनेवाले उन मौकापरस्तों को गद्दी से गिराकर असली जन-शासन को स्थापित करने के लिए जनवादी चेतना का जागृत होना ज़रूरी है ।

जाहिर है कि आपातकालीन परिवेश में रचित उपर्युक्त नाटकों के लेखकों ने आम आदमी के दुःख दर्द को वाणी दी है, राजनीति के तमाम माहौल के मुखौटे नंगा करने के बाद इस बात पर ज़ोर दिया है कि मौकापरस्तों को राजनैतिक क्षेत्र से खदेड़ें ।

स्वार्थी एवं सत्तामोही राजनीतिज्ञों के छल-कपट

आपातकाल एक व्यक्ति के सत्ता मोह की अंतिम परिणति था । अपने कुशासन के मुखालिफ जब चारों तरफ से आवाज़ उठाई गई तो तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने अपने पद से इस्तीफा देने के बजाय कुरसी को किसी भी तरह बचाना चाहा । इलाहाबाद उच्च न्यायालय के आदेश को भी उडान देकर उन्होंने देश की सुरक्षा के नाम पर आपातकाल घोषित किया । सुशीलकुमार सिंह के "नागपाश" में रानी माँ "अंदर संकट, बाहर संकट, ऊपर संकट, नीचे संकट, दाएँ संकट, बाएँ संकट कहकर देश की सुरक्षा के लिए उसे जिस नागपाश से बाँधती हैं वह नागपाश आपातकाल का प्रतीक है ।"[1]

---

1. नागपाश - सुशीलकुमार सिंह - पृ. 29

अपने मंत्री-गणों के साथ चर्चा किए बिना ही इंदिरा गांधी ने आपातकाल की घोषणा की थी । 1974 में अपने एक पुराने अंतरंग मित्र फकृद्दीन अली अहम्मद को भारत के राष्ट्रपति बनवाया । और उसी राष्ट्रपति ने ही संविधानिक दृष्टि से विरुद्ध होने पर भी मंत्रिमंडल की सहमति के बिना आपातकाल घोषित करने के इंदिरागाँधी के निर्णय के ऊपर दस्तखत कर दिया ।[1] 1975 जून 26 को सबेरे 4.30 से आपातकाल की आड में विद्रोहियों को गिरफ्त करना शुरू किया और बाद में मंत्रि-सभा बुलाकर 6 बजे को आपातकाल की सहमति प्राप्त की ।

यह सब किसकी भलाई के लिए किया गया ? महज एक व्यक्ति की स्वार्थ-पूर्ति और सत्ता मोह के लिए किया गया था । इस तरह एक व्यक्ति के दंभपूर्ण आचरण ने संपूर्ण जनता को निर्जीव-सा कर दिया । फिर आतंक का शासन जमाकर यह मनवाया गया कि वही एकमात्र देश को रक्षक है । बडे बडे पोस्तरों तथा अखबारों के माध्यम से ही प्रचार कराया जाता था कि तत्कालीन प्रधानमंत्री महान लोकहितकारी शासिका है । किसी ने उसे दुर्गा का अवतार कहा तो किसी ने अम्बा का । तत्कालीन काग्रेस पार्टी के अध्यक्ष देवकांत बरवाने तो उसे ही भारत और भारत को वही घोषित कर दिया । लक्ष्मीनारायण लाल के "नरसिंह कथा" में अपने पिता एकाधिपति हिरण्यकशिपु की आलोचना करने वाले प्रह्लाद के इस कथन में देवकान्त बरवा के उपर्युक्त कथन का प्रभाव अवश्य है -"आप ही देश हो गए । देश ही मैं बन गया । तभी देश नहीं आप रह गए । देशसेवा नहीं, अपनी सेवा हो गई ।"[2] इस तरह पूरे देश की गति महज एक व्यक्ति के इच्छा-इशारों के माकूल होने लगी । और आपातकाल के दौरान सरकार को अपने हाथों में बरकरार रखने के लिए इन लोगों ने जितने छल-कपट प्रस्तुत किए थे उनकी कोई शुमार नहीं थी ।

---

1. इंडिया : अर्धरात्रिमुतल अरनूद्टाण्ड - शशि तरूर
2. लक्ष्मीनारायण लाल - नरसिंह कथा - पृ. 56

निरंकुश सत्ता कभी नहीं चाहती कि कोई उसका विरोध करे, उसकी नीतियों की आलोचना करें । उसकी आकांक्षा हमेशा यही बनी रहती है कि सभी उसका समर्थन करें और उसकी तारीफ करें । "नरसिंह कथा" का वज्रदंत राजा की घोषणा यों सुनाता है -"राजा के अलावा किसी और की ताकत पर विश्वास करना सरासर राजद्रोह है । यहाँ किसी भी अपराध की सजा मौत ।"[1] लाल के "कलंकी" नाटक में हेरूप को अपने पिता के सामने सवाल उठाने के कारण उसे कई प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ीं । जिस तरह एक तानाशाह अपनी जनता को प्रश्नहीन बनाकर अपनी मन चाहे करतूतों को चुपचाप कबूल कराने के लिए जो प्रयास करता है, उस का चित्रण प्रस्तुत नाटक में विद्यमान है । हेरूप के इस कथन से यह विदित हो जाएगा -"यह नगर क्या है, मेरा पिता ही अकेला सामंत क्यों है - प्रश्नों की इस शरशय्या में हर क्षण बैठा रहता था । पिता मुझे अपने हाथों से दंड देता और हर तरह से मुझे डराया जाता ।"[2]

तानाशाह यह भी चाहता है कि उस के द्वारा जो भी निर्णय ले लिया जाता है, भले ही वह देश या जनता के लिए दोषपूर्ण हो, जन-घाति हो, उसे पूरा करके दिखाना चाहता है । क्योंकि आम आदमी के सामने वह घोषणा शासक की प्रतिष्ठा की समस्या है । व्यंग्य लेखक शरद जोशी ने अपने नाटक "एक था गधा उर्फ अलादाद खाँ" के नवाब के सिरफिरे करतूतों के माध्यम से इस मुद्दे को स्पष्ट कर दिया है । आदमी की मृत्यु को भी अपने शान बढ़ाने के उपाय में तब्दील करनेवाले शासक एवं नेता वर्ग की मनोवृत्ति का उद्घाटन यहाँ किया गया है । अलादाद खाँ नामक गधे की मृत्यु के खबर सुनकर उसे उस नाम का कोई व्यक्ति समझकर राष्ट्रीय शोक मनाने जैसे ऐलान करनेवाले नवाब के माध्यम से हमारे राजनेताओं तथा शासकों के वैचारिक दीवालियेपन पर व्यंग्य किया गया है । और अंत में अपनी मूर्खता को छिपाने

---

1. लक्ष्मीनारायण लाल - नरसिंह कथा - पृ. 21
2.

के लिए नवाब एक निरीह आदमी का कत्ल करते हुए शासकों के वर्ग चरित्र को फिर से दिखाते हैं । यहाँ अलादाद खाँ देश के आम आदमी का प्रतीक है । तानाशाही शासकों के सामने आम आदमी की जान को जानवरों की जान को कीमत ही नहीं है । आपात काल के दौरान इस नाटक में चित्रित जैसे छल-कपट निरंतर चल रहे थे । इन्दिरा गाँधी के पुत्र संजय की अहंतुष्टि और सुविधा के लिए न जाने कितने ही गरीबों की झोंपडियाँ नष्ट कर दी गयी थी । इस नाटक में तत्कालीन शासक वर्ग की स्वार्थान्ध और आत्मकेन्द्रित मनोवृत्ति का नंगा चित्र प्रस्तुत किया गया है ।"

शरद जोशी का ही एक अन्य नाटक "अन्धों का हाथी" भी ऐसा एक नाटक है जिसमें स्वार्थी राजनीतिज्ञों के सिरफिरे करतूतों का पर्दाफाश हुआ हो । प्रस्तुत नाटक में हाथी देश की समस्या है और पाँच अंधे हाथी की समस्या का समाधान ढूँढने का दावा अपने घोषणापत्रों द्वारा करते हुए सत्ता संभालनेवाले शासकों के प्रतिनिधि भी । ये शासक हाथी की समस्या का हल ढूँढ निकालने के बजाय अपनी-अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए जनता को भी अंधा बनाना चाहते हैं । और चुनाव के अवसर पर ये लोग "हाथी हटाओ" जैसे नारे लगाकर आते हैं तो सूत्रधार उनके सामने हाथी के बारे में सवाल उठाता है । तभी ये अंधे अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए सवाल उठानेवाले उस सूत्रधार का कत्ल करना ज़रूरी समझ लेते हैं और उसे मार डालते हैं । इस तरह आपातकाल सीयासी स्वार्थों की सत्तालोलुपता के सामने शहीद होनेवाले कई बेकसूर आदमी की लहू-लुहानी कहानी सुनाता है ।

आजकल राजनीति में परिवार मोहग्रस्तता और भाई-भतीजावाद अत्यंत सडो-गली हालत में पहुँच गयी है । आपातकाल के दौरान भारत के अवाम को तत्कालीन राजनीतिज्ञों की परिवार मोहग्रस्तता का बुरा

असर भोगना पड़ा । अवाम की बदहाली की प्रस्तुति सुशीलकुमार सिंह के "नागपाश" में हुई है । तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमति इंदिरा गाँधी के पद और प्रभाव का मुनाफा उठाते हुए उनका बेटा बिना ताज का बादशाह बन गया । उसने अपने माँ से भी ज़्यादा ताकत हासिल कर ली थी और बिना किसी वैधानिक अधिकार के भी देश के सर्वोच्च आदेशक बन गया । बेटे की निरंकुशता इतनी बढ़ चुकी थी कि माँ संविधानिक ढंग से काबिल होने पर भी अंकुश नहीं लग पाया । प्रस्तुत नाटक में रानी माँ और युवराज के खुनी खेल का चित्रण बहुत व्यंग्यात्मक ढंग से किया गया है । युवराज नगर - सुन्दरीकरण के नाम पर करीब एक डैसन गंदी बस्तियों के बाशिन्दों को आवासहीन बना डाला । लाखों करोडों बेचारे लोगों का, परिवार योजना के नाम पर, बलपूर्वक वन्ध्यीकरण कर डाला । वेतन बढ़ोत्तरो को अनदेखा करके उत्पादन दृष्टि को खूब प्रमुखता दी जिसकी वजह से फैक्टरी के मालिक मज़दूरों का खून चूसते हुए उत्पादन-वृद्धि प्राप्त करने की कोशिश में लगे रहे थे । युवराज ने अपनी माँ के मुखालिफ फुसफुसानेवालों तक को जेल में भरा दिया । माँ-बेटे ने यह सब किया, महज अपनी सत्ता को बरकरार रखने के खातिर ।

गिरिराज किशोर ने अपना नाटक "प्रजा ही रहने दो" में शासक वर्ग के संतती-मोह और सत्ता-लोलुपता को धृतराष्ट्र के माध्यम से चित्रित किया है । धृतराष्ट्र हमेशा अपने बेटों के हाथों में देश की सत्ता बरकरार रहना चाहता है । प्रस्तुत नाटक में महाभारत युद्ध की चर्चा भी आती है । युद्ध कभी भी एक देश और जनता के लिए नहीं लड़ा जाता है । युद्ध तो महज शासकों के अधिकार को बनाए रखने के लिए लड़ा जाता है । आपातकाल के वक्त जितने सारे अत्याचार किए गए, उन्हें देश की सुरक्षा और जनतंत्र की सुरक्षा के नाम से घोषित किया गया था । प्रस्तुत नाटक में पांडवों और कौरवों की पारिवारिक प्रतिस्पर्धा के कारण निर्दोष प्रजा को महायुद्ध

को विभीषिकाओं का सामना करना पडा । सारे नागरिक घायल हो गये और अपाहिज हो गए । आज भी शासक वर्ग को अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए एक युद्ध की ज़रूरत है तो वह इस की किसी भी संभावनाओं को फिसल न जाने देगा । आज भी शासक वर्ग अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए युद्ध का इस्तेमाल करने में हिचकता नहीं । युद्ध के खबर के साथ आम जनता में उत्पन्न होनेवाला भय जल्दी देश प्रेम में तब्दील हो जायेगा और अपने देश की रक्षा के लिए युद्ध चलानेवाले शासक वर्ग आम जनता के सामने महान देश-रक्षक में भी तब्दील हो जायेगा । यही युद्ध की राजनीति है । लाल के नाटक "नरसिंह कथा" में हिरण्यकशिपु अपनी प्रजा का ध्यान बाँटने के लिए पडोसी देश पर आक्रमण करने का ऐलान करता है । वे जनता को कई झूठे विचार प्रदान करते हैं तथा पडोसी देश को शत्रु-देश ठहरा कर जनता के मन में एक झूठे देश प्रेम को जगाना भी चाहते हैं । नाटक में जय नामक एक पात्र का कथन है -

"हमें झूठे विचार दिए,
पडोसी हमारा शत्रु है,
देश की अखण्डता संकट में हैं ।"[1]

कार्गिल हत्याकाण्ड के वक्त संघ परिवार और सरकार ने उसे जो प्रोत्साहन दिया और युद्ध में मरनेवाले जवानों को अर्थी को समारोह का जो रंग भरा दिया था, उन सब के पीछे भी सत्तालिप्सा का हाथ विद्यमान है ।

इस तरह आपातकाल में आम जनता के अधिकारों को छीनकर जितने भी कार्यक्रम चलाए गए वे सब जनविरोधी थे । जनविरोधी

---

1. लक्ष्मीनारायण लाल - नरसिंह कथा - पृ. 15

होने पर भी या जनता की भलाई से तनिक भी सरोकार न होने पर भी उनको जनकल्याणकारी घोषित कर दिया गया । बीस-सूत्री कार्यक्रम हो, पांच-सूत्री कार्यक्रम हो, गरीबी हटाओ हो, बलपूर्वक वन्ध्यीकरण हो, पुलिस दमन हो, या प्रचार माध्यमों पर लगाई गई पाबन्दी हो, सबको जनकल्याण-कारी घोषित कर दिया गया । यह सब सत्ता मोह या स्वार्थता से बढ़कर और किसी भी के खातिर नहीं था ।

प्रजातंत्र का खोखलापन

प्रजातंत्र जो "प्रजा द्वारा प्रजा के लिए प्रजा का" शासन माना जाता है । शासन की व्यवस्थाओं में यह इनसानियत से सबसे निकट आ जाती है क्योंकि, प्रजातंत्र सबको समान अधिकार का ऐलान करता है । यहाँ देश के सब लोग सभी लोगों के लिए हैं । लेकिन जब इसके स्थान पर कोई एक व्यक्ति प्रमुख बन जाता है तो सारी बातें उलट हो जाती है, जनता की आवाज़ दबा दी जाएगी, उसकी ज़ुबान छीन ली जाएगी, उसके हितों को अनदेखा किया जायेगा और व्यवस्था के नाम पर शासन मनमानी करने लगेगा । यही तानाशाही की शुरूआत है । 1975 में भारत की सियासती में यही घटित हुआ था । उन्नीस महीनों तक प्रजातंत्र कैद में था ।

आपातकाल की घोषणा के साथ सारे जनतांत्रिक माध्यमों, जनतांत्रिक आदर्शों को बन्दी बनाया गया । प्रजा की फुसफुसाहट तक को राजद्रोह की संज्ञा दी जाती थी, प्रेस की स्वाधीनता छीन ली गयी थी, प्रसार के माध्यम सरकार के हाथों के खिलौने बन गए । पुलिस और नौकरशाही को जनता और न्यायालय से कोई फर्ज पेश करने की ज़रूरत नहीं थी । यह सब इसलिए किए गए थे कि प्रजातंत्र संकट में था । प्रजातंत्र को सुरक्षा के नाम पर जनता के ऊपर आतंक का शासन जमाया गया । कुव्यवस्था के

मुखालिफ अपनी राय अभिव्यक्त करनेवाली प्रजा को जेल में भरकर अमानवीय दंड दिया, प्रजातंत्र की रक्षा के लिए । एक स्वास्थ्य-पूर्ण प्रजातंत्र की आधार शिला माने जानेवाले अखबारों के अधिकारों को छीन लिया गया, प्रजातंत्र की सुरक्षा के लिए। अन्यायपूर्ण गिरफ्तार के खिलाफ जनता को न्यायालय से न्याय माँगने का अधिकार काट डाला गया,, पजातंत्र की सुरक्षा के लिए । प्रजा के मुँह में कपडा ठूँसकर उन्हें बलपूर्वक प्रश्नहीन बनाकर मनमाने ढंग से शासन किया गया, प्रजातंत्र की सुरक्षा के लिए । प्रजातंत्र का खोखलेपन हिन्दी के कई नाटकों के ज़रिए अभिव्यक्त हुआ है ।

एक जनतांत्रिक व्यवस्था नागरिकों को अपनी राय व्यक्त करने की आज़ादी देती है । यह तो जनतंत्र का एक सबसे महत्वपूर्ण तत्व होता है । आपातकाल के अवसर पर जनतंत्र को सुरक्षा के नाम पर सरकार ने जनता के इस अधिकार को पूरी तरह छीन लिया । गिरिराज किशोर कृत "प्रजा हो रहने दो" में सत्ता लोलुप शासक वर्ग सियासती जुआ खेल में मग्न है । ये शासक जनता की समस्याओं को अनदेखा कर देते है । लेकिन इस झूठे सियासती जुआ खेल के खिलाफ कोई सवाल उठाता तो उसे कडी से कडी सजा मिल जायेगी । राजाज्ञा द्वारा यहाँ किसी भी आदमी को बोलने या रोने तक की इजाजत नहीं दी जाती ताकि शासकों के खेल में कोई रुकावट न आए । आज भी हमारे प्रजातंत्र में यही हो रहा है । देश में आम जनता अपनी बुनियादी ज़रूरतों से वंचित होकर यातनापूर्ण ज़िन्दगी जी रही है तो हमारे राजनेता जो जनता के प्रतिनिधि बनकर गद्दी पर बैठते हैं, सत्ता लिप्सा के खेल में लगे रहते हैं । इधर जनतंत्र कहाँ है ? जनता के वोट को हासिल करके गद्दी में बैठ जाने पर ये लोग जनता को भूल जाते हैं ।

आपातकाल के दौरान आदमी को अपनी जुबान संभाल करके ही जीना पडा था । सुशीलकुमार सिंह के "नागपाश" में इस स्थिति

का चित्रण पात्र दो और तीन के माध्यम से यों किया गया है -

"दो : "किसी को अपना दिमाग इस्तेमाल करने की इजाजत नहीं ।

× × × ×

दो : ज़ुबान हिलाने की सख्त मना हो है ।

तीन : हिलानेवाले को घोर शत्रु समझा जाएगा ।"[1]

शरद जोशी के "अंधों का हाथी" में सूत्रधार द्वारा जो जनता का प्रतीक है, अंधे शासकों के सामने देश की समस्या के बारे में सवाल उठाये जाने पर शासक लोग उसे मार डालते हैं । लाल के "कलंकी" में एक देश की जनता को वहाँ का शासनतंत्र पूर्ण रूप से प्रतिक्रिया विहीन और प्रश्नहीन बनाता है । नाटक का नायक हेरूप कुछ सालों के बाद अपने देश में लौटता तो देश की जनता को उस बदहाली को देखकर वह आश्चर्य चकित हो जाता है -"मैं जब इस नगर से गया था, तब यह नगर भयभीत था । हर वर्ष इसे रौंदती हुई एक सेना गुज़र जाती थी, और सदा यह सुनाई पड़ता था, हम संकट काल में है । और इतने वर्षों बाद, जब मैं इस नगर में लौटा, तो अब वह संकटबोध भी चला गया । यह अनुमान लगाना कठिन है कि यह नगर अब किस काल में है ?"[2] इस तरह आपातकाल में सत्ता के सामने ज़ुबान हिलाने का अधिकार यहाँ की जनता को नहीं था । तब कैसे उन शासकों को जनतंत्र के रखवाले कह सकते हैं । क्योंकि ऐसी व्यवस्था में जनता की कोई भूमिका नहीं है । जिस व्यवस्था में जनता की अपनी भूमिका नहीं होती वह जनतंत्र नहीं हो सकता बल्कि जनतंत्र नाम की तानाशाही हो सकती है ।

एक असली लोकतंत्र में जनवादी माध्यमों या सार्वजनिक माध्यमों का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान होता है । अखबार, आकाशवाणी,

---

1. नागपाश - सुशीलकुमार सिंह - पृ. 30
2. कलंकी - लाल - पृ. 43

दूरदर्शन जैसे सार्वजनिक संचार माध्यम सरकार और जनता के बीच विचार विनिमय का कार्य संभालते हैं । जनमत को एकत्रित करके सरकार के सामने पेश करने तथा सरकारी नीतियों को जनसामान्य के बीच पहुँचाने का कार्य ये माध्यम करते हैं । इसलिए जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता के शासन को अपनी पूरी अर्थवत्ता हासिल करने में ये संचार माध्यम अभिन्न भूमिका निभाते हैं । आपातकाल के दौरान जनतंत्र के प्राण इन संचार माध्यमों को अपने अधिकारों से वंचित करके जनतंत्र को निर्जीव कर डाला गया ।

प्रचार माध्यमों का मकसद जनमत को एकत्रित करना है । आपातकाल में प्रचार माध्यमों पर सैंसरशिप डाला गया था । उस समय शासक वर्ग ने अपनी नीतियों और चुनावी दृष्टि से लाभकारी घोषणाओं का ही प्रचार किया था । विपक्षी विचारों को दबा दिया जाता था । जो इसके विरुद्ध काम करता था उन्हें पुलिस दमन को भोगना पडा । "नागपाश" में सरकार के एजेन्सियों द्वारा सेंसर किए बिना अखबार छपाने के कारण पुलिस एक अखबारवाले को मार डालती है ।

इतने जनविरोधी अत्याचार करने के बावजूद उन अत्याचारों को जनतंत्र की रक्षा का एकमात्र मार्ग घोषित करने के लिए सरकार ने प्रचार माध्यमों का इस्तेमाल किया था । इंदिरा गांधी और अपने बेटे के चेहरे को और खूबसूरत बनाने में अखबार, आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि उस समय हमेशा प्रस्तुत थे । "नागपाश" में रानी माँ के विरोध कई पोस्टर चिपकाये जाते हैं । तब पात्र तीन उन से कहता है, "लेकिन इसके जवाब में हमने भी लाखों करोडों रुपए के पोस्टर बनवाकर गाँव-गाँव, शहर-शहर और गली-गली में चिपकवाए हैं । आप एक बार दौर पर तो निकलिए, चारों तरफ आपको अपनी और युवराज की खूबसूरत - शौर्यपूर्ण तस्वीरें ही नज़र आएँगी । सारे देश के अखबार,

आकाशवाणी और दूरदर्शन केन्द्र, सबकुछ भूलकर आपके और युवराज के ही गुणगान कर रहे हैं ।"[1]

इस तरह तत्कालीन शासकों ने प्रजातंत्र की पूरी ईमानदारी को तबाह करते हुए उसे एक बड़ा सा खोखला शासन तंत्र बना डाला । केवल एक व्यक्ति की अहं-तुष्टि के अनुसार देश के सारे लोगों को नियम की तीखी नोकों के सामने खड़ा होना पड़ा । पूरे शासन तंत्र का संचालन सूत्र जब एक अहंग्रस्त व्यक्ति के हाथों अकेला आ जाता है तो जनता को जान-माल की असुरक्षा पैदा हो जायेगी । लक्ष्मीनारायण लाल का "नरसिंह कथा" ऐसे एक अहंग्रस्त राजा के कुशासन का चित्र प्रस्तुत करता है । वह स्वयं को ईश्वर मानता है और अपने देश के सारे निवासियों को ईश्वर की मानिंद उसे मानने के लिए विवश भी करता है । लोगों से राजा की इच्छा के अनुसार व्यवहार कराने के लिए भयानक दमन चक्र चलाता है । वज्रदंत का कहना है -"देश के आधे से अधिक लोग भेदिए और गुप्तचर बन गए हैं । किसी अनजान के सामने आपस में बातें मत करने लगना खास कर राजा के बारे में कुछ भी कहना अपराध। प्रह्लाद के पक्ष में जाना, होना, उसके प्रति सहानुभूति रखना राजद्रोह है, सावधान ।"[2] प्रस्तुत नाटक में हिरण्यकशिपु अपनी सत्ता को जमाने के लिए आपातकाल घोषित करता है । राजाज्ञा के बारे में वज्रदन्त बताता है - "सीधे जाकर दाई तरफ मुड़ो । बाई ओर मुड़ना मना । ध्यान रहे - राज मार्ग पर चलना बोलना, खिड़कियों से बाहर देखना, किसी तरह का शोर मचाना मना ।"[3] प्रस्तुत नाटक में पौराणिकता को त्याग कर दिया गया है । यहाँ हिरण्यकशिपु एक तानाशाह का प्रतीक है । उसकी तानाशाही के विरुद्ध जनचेतना को निदेशित करनेवाला एक पात्र है प्रह्लाद और अंत में नरसिंह तो

---

1. नागपाश - सुशीलकुमार सिंह - पृ. 55
2. नरसिंह कथा - लक्ष्मीनारायण लाल - पृ. 20
3. वही - पृ. 21

जगी हुई जनचेतना है जिसके माध्यम से हिरण्य का सिंहासन तोडा जाता है और हिरण्य का कत्ल भी किया जाता है । नाटक के अंत में प्रह्लाद यह कामना करता है कि इस सिंहासन के विनाश के भीतर से एक नया लोकतंत्र उपजे । फिर भी हिरण्यकशिपु का फिर से आने की संभावना पर सामाजिकों को चेतावनी भी इस नाटक में होता है । और ऐसे खतरे से देश को बचाने के लिए सतर्क रहने का आह्वान करते हुए यह समाप्त हो जाता है ।

आपातकाल में जनतंत्र को अवमानना करनेवाली घटनाओं को कई मिसाल मिल सकती हैं जो तत्कालीन प्रधानमंत्री के अपने व्यवहारों से विदित हो जाता है । उन्होंने सोचा कि जनता ने दल को नहीं, प्रधानमंत्री को ही अपना मत दिया है । वे मानती थीं कि मंत्री-मंडल के सदस्य कुछ उपकरण मात्र हैं जिनके माध्यम से प्रधानमंत्री की शासन नीतियाँ लागू की जाएँ । उन्होंने ऐलान किया कि मंत्री-मंडल को शासन से कोई फर्ज नहीं है । मंत्री-मंडल के बहुसंख्यकों ने या तो उनकी दया के पात्र बनना चाहा, नहीं तो उनके उत्तम आज्ञाकारी बन गए । इस तरह जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि केवल एक व्यक्ति के गुलाम बने । यह दरअसल संपूर्ण भारत की गुलामी थी । "नागपाश" नाटक में शुरू से अंत तक इसी हालत का चित्रण हुआ है । जनता द्वारा चुनी हुई रानी माँ जनता को ही नागपाश की गिरफ्त में डालती हैं । जनता के सारे अधिकारों की तबाही करके अपनी सत्ता को जमाने का प्रयास करती हैं । युवराज संविधान की दृष्टि से अवैद्य होने पर भी वे उसके करतूतों का भरपूर प्रोत्साहन कर देती हैं ।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के "गरीबी हटाओ", शरद जोशी के "अंधों का हाथी", ज्ञानदेव अग्निहोत्री के "शुतुरमुर्ग" आदि नाटकों में भी प्रजातंत्र का यह खोखलापन प्रस्तुत किया गया है । "गरीबी हटाओ" में

देश की गरीबी हटाने का वादा करके जनमत हासिल करते हुए अपनी ही गरीबी को हटानेवाले शासकों की चर्चा की जाती है जो "अंधों का हाथी" में देश की असली समस्या को बिना ढूँढकर अपनी-अपनी सीमित नज़रिए के भीतर खड़े होकर आपस में लड़नेवाले देश द्रोही अंधे शासकों के शर्मीली व्यवहारों का उद्घाटन किया जाता है । और "शुतुरमुर्ग" के राजा तो जनता की असली बुनियादी समस्याओं को तरफ आँखें मूँद करके देश की सारी संपत्ति मेहनत और कुल प्रतिभा का इस्तेमाल करके, अपने शान को बढ़ावा देने के उद्देश्य से नगरी में एक सोने के शुतुरमुर्ग की प्रतिमा स्थापित करना चाहते हैं ।

जाहिर है कि आपातकाल दरअसल लोकशाही के विनाश का काल था । विडंबना यही था कि तब जनतंत्र की हिफाजत के नाम पर सारे जनतांत्रिक तत्वों को तबाही कर दी गई थी । लेकिन ध्यान देने के लिए एक और बात भी है कि क्या आपातकाल के बाद आज के हमारा लोकतंत्र न्यायपूर्ण है ? "नहीं" कहना पड़ेगा । क्योंकि जनतंत्र का बुनियादी नारा है कि जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा । मगर आज के संदर्भ में यह कहाँ तक सार्थक है ? आज हमारे देश में जनतंत्र से जनता का रिश्ता महज पोलिंग बूत के यहाँ आते-आते खत्म हो जाता है । जब उँगली की छोर में स्याही को निशान पड़ती है, तब मतदाता को उन्हीं को चुपचाप कबूल करना हो पड़ता है । नाम से जनतंत्र होने पर भी व्यवहार में वह कुछ गिने-चुने लोगों के हाथों का उपकरण मात्र है । क्योंकि देश में कौन सी नीति लागू होनी चाहिए, देश की संपत्ति का उपयोग कैसे करना चाहिए आदि निर्णय लेनेवाले यहाँ की जनता नहीं बल्कि जन-प्रतिनिधियों को नियंत्रित करनेवाला एक पूँजीपति वर्ग है । आज हमारे विदेश कर्ज कितने बढ़ गये है ? क्या ये उद्धार जनमत के माकूल लिया गया था ? या तो क्या इससे आम जनता की कोई भलाई है ? नहीं ये सब किया गया, केवल कुछ अल्पसंख्यक पूँजीपति वर्ग की सुविधा के लिए ।

और आज बाल्को, मॉडेन फुड इंडस्ट्रीस लिमिटेड आदि की बिक्री की जाती है । क्या जिसके बारे में जनता के साथ कोई राजनेता पूछ-ताछ करता है ? नहीं, वह भी महज विश्व बैंक, आई.एम.एफ और अन्य कई विदेशी कंपनियों के इशारों पर की जाती है । यहाँ जनता की कोई भूमिका नहीं होती, बल्कि केवल कुछ गिने-चुने नेताओं की इच्छानुसार ही सब कुछ चलती आ रही है । इसी हालत में हम कैसे इसे "जनतंत्र" कह सकते हैं ? बिलकुल नहीं । इसलिए यद्यपि आपातकाल की गुलामी से जनतंत्र मुक्त हो गया है तो भी आज उसे असली "जनतंत्र" में तब्दील करने के लिए जनता के मन में एक "डेमोक्रैटिक कल्चर" या जनवादी संस्कृति की ज़रूरत है । अथवा जनता में जनवादी चेतना जागृत होनी ही चाहिए । ऊपर चर्चित सभी नाटकों ने इस तरह एक अच्छी जनतंत्रात्मक व्यवस्था के निर्माण की तरफ जन-चेतना को निर्देशित करने का कार्य भी किया है ।

कलाकार और साहित्यकार पर व्यवस्था का दमन

आपातकाल में कलाकार और साहित्यकार को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं थी । क्योंकि एक दोषी व्यवस्था में हमेशा एक प्रतिबद्ध कलाकार शोषितों तथा पीड़ितों के पक्ष में होगा । इसी वजह से वह स्वाभाविक रूप से उस दोषी व्यवस्था के खिलाफ कलम चलाएगा । कलाकार की यह मनोवृत्ति सत्ता को तनिक भी न भाती । इसलिए वहाँ सत्ता और कलाकार के बीच संघर्ष पैदा हो जाएगा । इस अवसर पर, सत्ता कलाकार पर पाबन्दी लगाती है और उसे यातनाएँ पहुँचाने का कार्य भी करती है । विश्वेतिहास के पन्नों में ऐसे कई कलाकारों तथा साहित्यकारों के नाम हम देख सकते हैं । रूसी लेखक नोरिस पास्टरनाक को अपने देश में साहित्यक जीवन का अधिकार नहीं मिला । उनके प्रसिद्ध उपन्यास "दा ज़ितारो" पर रोक लगाई गई ।

सलमन रूश्दी, तस्लीमा नसरीन, केन सरोविवा आदि इन के लिए गवाह हैं । हाल ही में हमारे भारत को एक वनिता फिल्म निदेशिका तक को व्यवस्था का दमन भोगना पड़ा है । कहने का तात्पर्य यह है कि काशी की विधवाओं की समस्या पर वाटर (Water) नामक सिनेमा बनाने की कोशिश के दौरान निदेशक दीपा मेहता को धार्मिक कट्टरवादियों की तरफ से कई प्रकार के अत्याचारों को झेलना पड़ा । प्रस्तुत समस्या में सरकार भी कुछ न कर सकी । इस तरह आपातकाल में भी कलाकार और साहित्यकार की बोलती बन्द कर दी गई थी ।

आपातकाल ने जिस उद्देश्य से प्रचार माध्यमों पर पाबन्दी लगा दी थी, उसी उद्देश्य से कलाकार और साहित्यकार पर भी पाबन्दियाँ लगाई थीं । कला और साहित्य जनमत को अपनी ओर आकर्षित करते हैं । जनवादी अधिकारों की तबाही करनेवाले प्रशासन के भीतर प्रतिबद्ध साहित्य और कलाकार हमेशा जनता के पक्षधर होंगे । लेकिन एक जनविरोधी शासन ऐसे साहित्यों तथा कलाओं को बरदाश्त नहीं कर सकता । ऐसे कलाकारों और साहित्यकारों की तरफ वह अपने सबसे भयानक हथियारों का इस्तेमाल करता है । आपातकाल में उन्हें व्यवस्था का दमन भोगना पड़ा और उनकी रचनाएँ पाठकों के सामने न आ सकीं ।

ब्रिटिश इंडिया में अनेक ऐसी कृतियों को जो शासन के विरुद्ध जनचेतना विकसित कर सकती थीं, जब्त कर ली जाती थीं । प्रेमचन्द कृत "सोजेवतन" ऐसी एक पुस्तक थी जिस पर सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिया था । विदेशी शासन ऐसा करता था, तो जनता उसे अनपेक्षित नहीं समझती, लेकिन यदि जनतांत्रिक शासन-व्यवस्था में ऐसा हो तो आश्चर्य और दुःख की बात होती है । तत्कालीन शासन ने कलाकार तथा बुद्धिजीवि को अपना दिमाग

इस्तेमाल करने से इंकार कर दिया था । सुशीलकुमार सिंह के नाटक "नागपाश" में एक पात्र कहता है कि, "किसी को अपना दिमाग इस्तेमाल करने की इजाजत नहीं ।"[1]

निरंकुश सत्ता यह कभी नहीं चाहती है कि कोई उसका विरोध करें । वह हमेशा चाहती है कि सभी उसका समर्थन करे या खुशामद करें । इसलिए सरकार की खुशामद करनेवाले साहित्यों को व्यवस्था के सामने बने रहना आसान था । ऐसे साहित्य वीरगाथाकालीन साहित्य के समान शासकों का गुणगान करके गुज़रते रहे । वे जनता की बुनियादी समस्याओं से कटकर रह गए । भीष्म साहनी के "कबिरा खडा बाज़ार में" नाटक में कायस्थ कबीरदास को अपनी खंडन-मंडन की कविता को छोडने तथा राजा का आश्रित बनकर राजकवि के पद को हासिल करने के लिए सलाह देता है । कायस्थ कहता है -"यहो खंडन-मंडन । यह कवि का काम नहीं है । कवि की साधना तो सरस्वती देवी के चरणों में होती है, गलियों बाज़ारों में नहों होतो ।"[2] कायस्थ आगे भी कहता है, "जब महाराज का हाथ तुम्हारी पीठ पर होगा, तो अपने आप तुम्हारी प्रतिभा खिलेगी, तुम्हारा मान होगा । एक दिन तुम राज कवि भी हो सकते हो ।"[3] कबोरदास की कविताएँ जब उन लोगों को बहुत ही असह्य हो गई तो उन्होंने कबीर की वाणी को बन्द करने का तरकीब सोचा । कबीर के पदों कविताओं की दुहाई करनेवालों पर अमानवीय दमन-चक्र चलाया गया । इस दौर में एक अंधे भिखारी का कत्ल करने के लिए भी कोतवाल नहीं हिचकता है । फिर कबीर की बस्ति में आग लगाई जाती है, उन्हें हाथ-पैर. बाँधकर नदी में फेंकता है । कबीर और अपने साथी को सत्संग लगाने का इज़ाजत भी नहीं दिया जाता था । कबीर की यह हालत आपातकाल के लेखकों तथा कलाकारों को भी सहना पडा था ।

---

1. नागपाश - सुशीलकुमार सिंह - पृ. 30
2. कबिरा खडा बाज़ार में - भीष्म साहनी - पृ. 78
3. वही - पृ. 79

उस समय जो साहित्य सच्चाई के पक्षधर थे उन्हें सेंसरशिप ने पैरों तले कुचल दिया था । सेंसरशिप ऐसा एक खतरनाक हथियार था जिसने उन्नीस महीनों तक सच का गला बुरी तरह दबाए रखा । "गरीबी हटाओ" नाटक में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना सेंसरशिप के बारे में संकेत करते हैं । प्रस्तुत नाटक का नेताजी अपने वर्गीय दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता हुआ कहता है "सत्य असत्य कुछ नहीं होता । न राजनीति में, न थियटर में ।" यहाँ नेताजी थियटरवालों से अपने नाटक की विषयवस्तु में बदलाव लाने के लिए आदेश देते हैं, वे नाटक में कई प्रकार के फेरबदल माँगते हैं ताकि वह नाटक कभी भी व्यवस्था-विरोधी न हो । नेताजी खुद को प्रत्येक नाटक का सूत्रधार घोषित करता है तथा स्वेच्छानुसार नाटक करवाने की धमकियाँ देते हैं ।

आपातकाल में अनेक नाटकों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था अथवा काट-छांट कर मूल स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया था । उन पर प्रतिबन्ध इसलिए लगा दिया गया था कि जिनमें राजनीतिक पात्र थे या सत्ताधारी वर्ग के ढोंग उजागर हुए थे । किसी दल विशेष या विचार विशेष का प्रचार होते हुए भी वे सरकार की राय में "खतरनाक" हो गए थे । लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक "सब रंग मोहभंग" 2 दिसंबर 1975 के एकमात्र प्रदर्शन के बाद सरकारी हस्तक्षेप से बन्द करवा दिया गया । अमृत नाहटा के "किस्सा कुरसी का" पर बनी फिल्म को जला ही दिया गया था क्योंकि जिसमें सत्तालोलुप नेताओं के ज़रिए कुरसी पाने के लिए सभी हथकण्डे अपनाए जाने का चित्रण है ।

लक्ष्मीनारायण लाल के "एक सत्य हरिश्चन्द्र" में भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मुद्दे को उभारा गया है । इस की समस्या तो

---

1. गरीबी हटाओ - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ. 2।

धार्मिक एवं राजनीतिक शोषण को सुगमता के लिए आम जनता की मानसिक पृष्ठभूमि को तैयार करने में सहायता देनेवाली एक कथा को आम जनता द्वारा व्याख्यायित करके उस कथा के अन्दर छिपे जन-शोषण की तरकीबों को पर्दाफाश करने की है । कथा तो सत्यनारायण की कथा है । यह कथा कई सदियों से सुनती आई है । वहाँ के पुरोहित वर्ग उस कथा द्वारा जनता को पढ़ाता है कि अपने से बड़ों का विरोध करने से क्या-क्या दंड मिलता है । प्रस्तुत कथा में हरिश्चन्द्र, इन्द्र और विश्वामित्र के षड्यंत्र और अत्याचार को चुपचाप सिर लेता है । लेकिन समस्या तो तभी उत्पन्न होती है जब लौका नामक एक पात्र सत्यनारायण की कथा को असली रूप में सुनाने का वादा करता है । यहाँ ब्राह्मण-हरिजन के बीच के संघर्ष भी उभारा गया है । क्योंकि यह कथा सदियों से ब्राह्मणों द्वारा सुनाती आयी है और बाकी सब लोग केवल श्रोता मात्र रहे । लौका इसके बारे में सवाल उठाता है - "इस में कही हुई सारी कथाएँ हमें यह बताती है, जो सत्यनारायण की कथा नहीं सुनता वह तमाम पापों, दुःखों और नाना प्रकार की विपत्तियों को प्राप्त होता है । पंचों, लेकिन यह कोई नहीं सुनाता कि सत्यनारायण की कथा क्या है । जैसे अब तक हमें सिर्फ यह बताया गया है कि अपने से बड़ों का विरोध करने से क्या-क्या दंड मिलता है पर कभी यह नहीं बताया गया कि विरोध क्या है ?"[1] लेकिन लौका को अपनी राय नाटक द्वारा व्यक्त करने में कई प्रकार के हमलाओं को झेलना पड़ा । ब्राह्मण लोग हरिजनों के साथ दंगा-फसाद शुरू करता है ताकि लौका से नाटक नहीं खेला जा सके । इस प्रकार जब कभी सत्ताधारी वर्ग के अत्याचारों के खिलाफ कलाकार या साहित्यकार सर्जना करता है तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को तबाही ज़रूर हो जायेगी ।

---

1. लक्ष्मीनारायण लाल - एक सत्य हरिश्चन्द्र - पृ. 23

सुरेन्द्र वर्मा के "आठवाँ सर्ग" एवं भीष्म साहनी कृत "हानुश" में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से संबंधित सवाल उठाए गए हैं । "आठवाँ सर्ग" महाकवि कालिदास के "कुमारसंभव" पर आधारित रचना है । "कुमारसंभव" के आठवें सर्ग में जो शिव-पार्वती वर्णन है, उस पर अश्लीलता का आरोप करते हुए उस कृति पर पाबन्दी लगाई जाती है । अपनी रचना धर्मिता पर शासन द्वारा लगाए गए अन्यायपूर्ण गलत आरोपों के सामने चुपचाप सिर झुकाने के लिए कालीदास कितना असहाय और निर्बल है - रचनाकार के समझौते की इस दुखद परिणति का चित्रण यहाँ हुआ है । सुरेन्द्र वर्मा ने रचनाकार की इस पराजय को नाटक के तीसरे अंग में कालिदास के व्यापक जन-अभिनंदन तथा रचनाकार द्वारा सत्ता-प्रदत्त सम्मान के अस्वीकार के माध्यम से विजय में परिवर्तित कर दिया है ।

नाटक में कुमारसंभव के आठवें सर्ग को अयोग्य सिद्ध कराने के लिए न्याय समिति को नियुक्त कर देता है । न्याय समिति के सदस्य है - धर्माधिक्षय, व्यापारी आदि जिन्हें साहित्य और कला से कोई संबंध भी नहीं है । इस न्याय समिति की प्रतिबद्धता दरअसल कला और साहित्य से नहीं, बल्कि शासक से है । नाटककार ने न्यायसमिति और उसके निर्णायकों को आज के सेंसर बोर्ड के समानान्तर प्रस्तुत करते हुए सेंसर बोर्ड और शासन के बीच के अविशुद्ध संबंध को उजागर किया है ।

भीष्म साहनी के 'हानुश' में भी कलाकार पर व्यवस्था के दमन का बर्बरतापूर्ण चित्रण मिलता है । जब हानुश अपने सत्रह सालों के निरंतर परिश्रम के बाद एक अद्भुत घड़ी का निर्माण करता है तो देश का शासक उसे अपना शान बढ़ाने का अवसर समझकर उस घड़ी को नगरपालिका के मीनार पर लगवाता है । इतना होना ही, यदि हानुश इस तरह की अन्य घड़ियों

का निर्माण करे तो वह अपने शान के लिए खतरा समझकर बादशाह हानुश की दोनों आँखें लेते हैं । संसार में, शासक वर्ग हमेशा ऐसा ही चाहता है कि संपूर्ण कला और साहित्य शासक के इच्छा-इशारों पर रहें और शासक के शान बढाने में मदद दे । यही शासकों का वर्ग चरित्र है । कलाकार और साहित्यकार पर लगाई जानेवाली दमन-नीति के लिए कई उदाहरण वर्तमान भारत में हम देख सकते हैं ।

अमृता प्रीतम की एक कविता पर शिरोमणी गुरूद्वारा प्रबन्ध कमेटी द्वारा नोटिस दिया जाना, "इंडियन एक्सप्रेस" के संवाद दाता पर निर्दय आक्रमण, प्रो. डा. विश्वनाथ तिवारी की अकारण निर्मम हत्या आदि इसके उदाहरण हैं ।

कला और साहित्य एक देश के जागरण की बुनियाद है । जिस देश में कलाकार और साहित्यकार स्वतंत्र है वहाँ की जनता और शासक वर्ग बर्बरता से दूर हो जाते हैं । क्योंकि तत्कालीन शासन का असर और उसकी तरफ जनता की प्रतिक्रिया आदि साहित्य और कला के माध्यम से अभिव्यक्त हो जाएगी जो देश में एक स्वास्थ्यपूर्ण माहौल बनाए रखने में सहायता देती है । आपातकाल के अवसर पर ठीक उलटकर जनचेतना को जगानेवाले साहित्य की जुबान उखाड फेंककर समाज में झूठी खामोशी और प्रशांतता लाने का प्रयास सरकार ने किया था । यह दरअसल प्रशासन-तंत्र को बरबरता की तरफ घसीट लाने की प्रक्रिया बन गयी थी ।

मजहबी मतवालापन

मजहबी मतवालापन में विश्व के दूसरे देशों को पीछे हटाकर हमारा भारत सबसे आगे खडा होता है । मजहब मनुष्य को अपनी सब प्रकार की

समस्याओं, उलझनों से मुक्त कर शांति प्रदान करने का वादा करता है । मुक्ति की मरीचिका दिखाकर वह मनुष्य को अपनी तरफ मानता है । मगर इतिहास गवाह है कि अब तक दुनिया का कोई भी मजहब आदमी की समस्याओं का हल नहीं कर सका है । बदले में वह अवाम का दोहन करता रहता है । पुरोहित वर्ग अपने अनुयायियों को मुक्ति के पथ दिखाने के बजाय अंधविश्वास के अनेक ज़ंजीरों से जकडता है । इस तरह यहाँ कूप-मंडूकों की शुमार प्रतिदिन बढ़ती जा रही है । इस कूप-मंडूकता से ही मजहबी मतवालापन पैदा होता है । आपातकालीन परिवेश में रचित कतिपय नाटकों में कहीं न कहीं किसी-न-किसी प्रकार इस मुद्दे को उभारा गया है ।

यहाँ के मजहबों ने ईश्वर को कई टुकडों में बांटा है और अपने-अपने हाथों के टुकडों को ऊपर उठाकर दूसरे धर्मावलंबियों से वे दावा बोलते हैं और इस पृथ्वी पर खून बहाते रहते हैं । भीष्म साहनी का नाटक "कबिरा खडा बाज़ार में" मजहब के नाम पर चलनेवाले दंगा-फसादों का नंगा चित्र उपस्थित करता है । प्रस्तुत नाटक में दो विभिन्न मठवाले आपस में लडते हैं, तोपें चलाते हैं, एक दूसरे के साथ पत्थर भी मारते हैं । दोनों मठ के लोग बडे-बडे लाव-लइकर के साथ आते हैं । सफदर हाश्मी के नाटक "अपहरण भाई-चारे का" में भी अस्त्र-शस्त्र और खून-खराबी के धर्म का जिक्र किया गया है । प्रस्तुत नाटक में हिन्दु इस्लाम और सिख-धर्मों के फौजों का वर्णन हुआ है । उसमें एक अमेरिकन रिंग मास्टर भारत में सांप्रदायिकता नामक एक भयानक जानवर को तलाश में निकलता है । उन्हें अपने सरकस के लिए इस जानवर को सख्त ज़रूरत है । जमूरा रिंग मास्टर को सांप्रदायिकता के जानवर को पकडने के लिए "हिन्दू सेना भवन", फौजे इस्लाम भवन" और "सिख सेना भवन" से परिचित कराता है । इस तरह मजहब के नाम पर जितने सारे फौजी हमारे यहाँ मौजूद है उतने हमारे देश को तीनों सेनाओं में शायद ही होंगे ।

किसकी हिफ़ाजत के लिए यह सब जुटाए रहते हैं ? ईश्वर की, मनुष्य की या मनुष्य और मनुष्य के बीच के विश्वास की ? अब तक के इतिहास हमें सिखाता है कि कोई भी सेना या हथियार मनुष्य राशी और उसके विश्वास की हिफाजत नहीं कर सकते हैं । बदले में वे दूसरे धर्मावलंबियों की तबाही करते हैं, मनुष्य-मनुष्य के बीच के विश्वास को तबाही करते हैं । इन लोगों को न अपने मजहब पर विश्वास है और न इनसानियत और ईश्वर पर भी । विश्वास अपनी उच्चतम की स्थिति में पहुँचता है तो लोग पागल हो जाते हैं । आजकल इस धार्मिक पागलपन ने हमारे देश को कई टुकडों में बांटा है ।

"कबिरा खडा बाज़ार में" में इस धार्मिक पागलपन का नंगा चित्र विद्यमान है । इसमें एक महंत एक नए मठ की स्थापना करने के लिए पधारते हैं । उनके हाथ में एक चाबुक है । चाबुक इसलिए है कि नीचजातवालों को मार्ग से भगाए । महंतजी के मार्ग को पुनीत करने के लिए गंगा जल छिडके जाते हैं । चान्दी की पालकी में सवार करनेवाले महंतजी की बडी-सी तोंद से होकर कई प्रकार की मालाएँ हैं । महंतजी चान्दी के एक पात्र से मुँह में पानी भर कर कुल्ला करते हैं और लोग कुल्ले से सनी हुई मिट्टी को तर्जनी में उठा-उठाकर सिर, माथे और सीने में लगाते हैं । महंतजी के चरणों को धोने पर स्त्री-पुरुष उस पानी को अंजुली में लेकर पीते हैं । वहाँ की भीड में धक्का-मुक्की होती है, लोगों को विशेषकर नीच जातवालों को हटाने के लिए महंतजी के लोग चाबुक से कोडा देते रहते हैं । यह पूरा दृश्य एक औसत भारतीय धार्मिक परिवेश को व्यक्त करता है ।

आजकल सामाजिक तरक्की के साथ-साथ मजहबी मतवालापन में भी पर्याप्त बदलाव आया है । लोग काल्पनिक ईश्वर से जिन्दा रहनेवाले ईश्वरों की तरफ उन्मुख होने लगे । सत्यसाईबाबा, अमृतानन्दमयी जैसों ने

ईश्वर का स्थान हड़प कर अपना बनाया है । वे लोग कलैण्डर देवता बनकर हर घर, आफिस और दुकानों की दीवारों पर छिपके रहते हैं । हमारे यहाँ लोकशाही की अगुआई करनेवाले बड़े-बड़े राजनेता भी ऐसे देवताओं की करूण-कटाक्ष की तलाश में भाग रहे हैं ।

धर्म की एक विशेषता यह है कि जो कुछ दुनिया में विद्यमान नहीं हैं उनपर विश्वास प्रकट करना । सभी धर्म स्वर्ग की लालसा और नरक के भय को जगाते हैं । इस तरह सत्य को मिथ्या में तब्दील कर देते हैं और मिथ्या को सत्य में भी । ये धर्म इस असली जगत को मिथ्या जगत मानते हैं । इसलिए यहाँ के शोषण, गरीबी आदि मिथ्या है । कई धर्मों के अनुसार, सबसे ज़्यादा शोषित, पीड़ित या गरीब आदमी ही मरणोपरान्त स्वर्ग जा सकता है । या तो धर्म इन वर्तमान दुर्गतियों को पिछले जन्म के कर्म फल मानने के लिए लोगों को विवश करते हैं । अथवा वर्तमान ज़िन्दगी में एक आदमी को गरीबी हो या अमीरी हो, वह उसके पिछले जन्म के कर्म का फल है, वर्तमान जन्म की नियति है । अतः इस दुनिया के सभी अमीर लोग अपने पिछले जन्म में भले आदमी थे । इसलिए अगले जन्म में अच्छी हालत मिलने के लिए यहाँ के शोषितों, पीड़ितों, गरीबों को सब कुछ सहते हुए, जुबान संभालकर एक भले आदमी को ज़िन्दगी बितानी पड़ती है । धर्म की यह नशीली ताकत जनता को प्रश्नहीन एवं प्रतिशोधहीन बनाती है । इसलिए जनता अपने साथ होनेवाले सब प्रकार के अत्याचारों के खिलाफ आवाज़ उठाने के बजाय सबकुछ सहकर मरणोपरांत की ज़िन्दगी के लिए जी रही हैं । यह समाज की शोषणकारी ताकतों के लिए लाभप्रद है ।

रेवतीसरन शर्मा का नाटक "राजा बली की नई कथा" राजेश कुमार का "सेवा सेर गेहूँ" जो मुंशी प्रेमचन्द की कहानी का रूपान्तरण है, आदि में इस मुद्दे को उभारा गया है । "राजा बली की नई कथा" में

शोषक वर्ग एवं धर्म के ठेकेदार पूर्वजन्म, पुनर्जन्म तथा कर्मफल की सुन्दर कहानियाँ कल्पित करके आम जनता के मन में भगवान के खातिर त्याग करने व अपने हक छोड देने की प्रेरणा दे देती हैं । और इन कथाओं के माध्यम से किसानों की भूमि हडप ले लेते हैं । एक किसान की अपहृत भूमि उसे वापस दिलाने के लिए जब भगवान स्वयं भूमि पर उतरते हैं तो भगवान भी आश्चर्य चकित हो जाते हैं । भगवान खुलकर बताते है कि ये सब कथाएँ यहाँ के शोषक वर्ग द्वारा गठी गई कथाएँ हैं और ये सब सरासर झूठ है ।

"सवा सेर गेहूँ" के शंकर के घर पर एक स्वामीजी आते हैं । शंकर उस स्वामी के आगमन को अपना सौभाग्य समझता है । और किसी तरह स्वामी का सत्कार करना चाहता है । गरीब शंकर के घर पर खाने के लिए कुछ भी नहीं था और ईश्वर का प्रतिरूप स्वामी को खिलाने के लिए शंकर एक पंडित के यहाँ से सवा सेर गेहूँ उधार लेता है । बदले में पचासों सेर लौटा देने के बाद भी उसे बताया जाता है कि उस पर साठे पाँच मन गेहूँ बकाया है । यहाँ शंकर स्वामी को खिलाना पुण्य समझता है और अन्यायी पंडित का विरोध करना पाप भी समझता है । यह केवल एक शंकर की कथा नहीं है । भारत की ग्रामीण जनता अब भी इस पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, कर्मफल आदि से संबंधित कहानियों के नशे में फँसी रहती है ।

तर्क और बुद्धि का धर्म में कोई जगह नहीं होती इसलिए यह मूलत: ज्ञान-विज्ञान का विरोधी है । समाज में किसी भी प्रगतिशील कदम का धर्म विरोध करता है । क्योंकि पुरोहित वर्ग जैसे मजहब के ठेकेदारों का अस्तित्व जनता के अंधविश्वास और अज्ञता पर आधारित है । इसलिए मौजूदा सामाजिक माहौल में बदलाव आना उसके लिए खतरनाक है । इसलिए मजहब हमेशा एक तरह की प्रतिगामी भूमिका निभाता है । अवाम को वह अपने

बौद्धिक दासत्व के जाल में फसाता है । लक्ष्मीनारायण लाल का "कलंकी" इस मुद्दे को उभारता है । नाटक की भूमिका में नाटककार ने लिखा है कि "हमारी चेतना में बोए हुए न जाने कितने मंत्र, नाद, स्वर हमारा पीछा कर रहे हैं और हम भयभीत आगे भाग रहे हैं । धर्म-भय, मृत्यु-भय, पाप-भय और अंत में जीवन भय ।"[1] इस तरह नाटक में हेरूप को सवाल उठाने से रोका जाता है । हेरूप पहचानता है कि अपने नगरों के लोग मानसिक गुलामी भोग रहे हैं और यहाँ तक उन के मन से जीवन-बोध ही गायब हो गया है । उन लोगों को देखकर हेरूप खुद बताता है -"लगता है इन में केवल अस्तित्व-बोध है, जीवन-बोध नहीं । ये चाहते भी शायद नहीं कि कोई उनके जीवन बोध को जगाए ।"[2] प्रस्तुत प्रसंग मानसिक गुलामी के अंजाम को सूचित करता है । जैसा कि मानसिक गुलामी के अंतिम मंजिल तक आते-आते जनता को अपना जीवन बोध और परिवेशबोध नष्ट हो जाते हैं और वह केवल दो टाँगों के जानवर में तब्दील हो जाती है । और जब दिमाग से विवेक गायब हो जाता है, तब मन में खुदा के स्थान पर शैतान आसीन हो जाता है । दरअसल धर्म-ग्रन्थों तथा आचारों को पढ़ानेवाले पुरोहित अपने अनुयायियों को ईश्वर संबंधी बातों से परिचित करने के बजाय उनमें अन्य धर्मों तथा धर्मावलंबियों के प्रति नफरत का भाव जगाकर शैतानी मानसिकता पैदा कर देते हैं । कह सकता है कि भारत जैसे धर्म प्रधान (कृषिप्रधान नहीं) देश के सौ फीसदी के नज़दीक की आबादी के दिमाग में शैतान ही सवार है । इसलिए किसी भी घटना, बहुत ही तेज़ी से एक सांप्रदायिक दंगे में तब्दील हो जाने की संभावना हमेशा भारतीय पर्यावरण में मौजूद है ।

भारत के प्रत्येक मतदाता सारी की सारी घटनाओं को मजहबी दृष्टि से देखता है । उस तरह देखने के लिए मजहब के ठेकेदार उन्हें

---

1. कलंकी - लक्ष्मीनारायण लाल - भूमिका
2. वही - पृ. 43

विवश करते भी हैं । पुरोहित वर्ग धर्म ग्रन्थों और कई प्रकार की विश्वास-संहिताओं को दुहराते हुए जनता की स्वतंत्र-चिंतन शक्ति को तबाह कर प्रत्येक घटना को मजहबी नज़रिए से व्याख्यायित करने का रास्ता बनाता है । तब इन अंधे अनुयायियों के सामने दंगा-फसाद रचने के अलावा और कोई चारा नहीं, रह जाएगा । लाल के नाटक "एक सत्य हरिश्चन्द्र" में ऐसी एक घटना है जहाँ लौका नामक एक दलित पात्र सत्यनारायण की कथा की पुनर्व्याख्या करने का ऐलान करता है । तब देवधर नामक एक पात्र मनुस्मृति, उपनिषद् जैसे ग्रन्थों को उद्धृत करते हुए कहता है -"यह सरासर अधर्म है । हिन्दु धर्म खतरे में है । लौका जान-बूझ कर हमारे शांत इलाके में सांप्रदायिक आग भड़काना चाहता है । सत्यनारायण की कथा हिन्दु धर्म है । धर्म विश्वास है । भूख, शूद्र और अज्ञान यह तीन धर्म साधना के बहुत बड़े दुश्मन हैं । शतपथ ब्राह्मण में और मनुस्मृति में कहा है - अब्राह्मण और शूद्र ब्रह्म-विद्या के अधिकारी नहीं । शूद्र को वेद के पढ़ने सुनने को मना ही है । शूद्र श्मशान समान है । यदि जो धर्म ग्रन्थ पढ़ते-सुनते पाया जाए, तो उसकी जुबान काट देनी चाहिए । उसके कान को पिघले शीशे और लाख से भर देना चाहिए ।"[1] फिर ब्राह्मण लोग हरिजनों के साथ दंगा-फसाद शुरू करता है ताकि लौका से सत्यनारायण का नाटक नहीं खेला जा सके । इस तरह समाज में मजहबी मतवालापन पैदा करनेवाले कई प्रकार के खतरनाक ग्रन्थ हैं जिन्हें यहाँ श्रेष्ठतम ग्रन्थों की कोटी में रखते हैं और जिन्हें पढ़ते और पढ़ानेवालों को ऊँची जगह में बिठाते हैं । सदियों से ये सब करोडों अरबों मनुष्य-मन को हथियार घर में तब्दील करके आए हैं ।

धर्म के नाम पर बनाया गया जाति-भेद धार्मिक मतवालेपन का एक घृणित स्वरूप है । इसके तहत समाज के एक बहुत बड़े भाग को मानवाधिकारों से वंचित किया हुआ है । सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने अपने

---

1. एक सत्य हरिश्चन्द्र - लाल - पृ. 23

नाटक "गरीबी हटाओ" में उस मुद्दे को उभारा है । प्रस्तुत नाटक में एक गाँव के दलित लोग अपने लिए एक कुआँ माँगते हैं । राज-शासन और आधुनिक लोकशाही दोनों का चित्र यहाँ हैं । दोनों शासनों में इन दलितों के लिए एक कुआँ खुदवाने में ये पुराने ज़माने के राजा से लेकर आधुनिक ज़माने के राजनेता तक के सत्ताधारी वर्ग असमर्थ रह जाते हैं । क्योंकि दलितों के लिए कुआँ कहाँ खुदवाएँगे ? दलितों को अपनी कोई ज़मीन नहीं । और यहाँ के मजहब सार्वजनिक कुए से भी दलितों को पानी भरने न देते । इस अवसर पर हमें यह याद रखना चाहिए कि 1927 में डॉ. बी. आर अम्बेडकर ने जब मुंबई नगरपालिका के चौदार कुए से पानी पिया तो अशुद्ध बने उस कुए में पंचगव्य लगाकर ब्राह्मणों ने उसका शुद्धीकरण किया था । "गाय के गोबर, मूत्र, दूध, दही और मक्खन के मिश्रित को पंचगव्य कहते हैं ।" [1] जो धार्मिक पागलपन का दृष्टांत है ।

धर्म-सम्मत जाति विभाजन ने भारतीय समाज में एक अचिकित्स्य बीमारी फैलाई है । इस बीमारी से मुक्ति, एक सपना सा रह जाता है । इसलिए सारा समाज अपने भीतर ही सह रहा है । मजहब से संबंधित ये बातें लोकशाही के तत्वों से एकदम विपरीत है । धर्म के ठेकेदार सभी मनुष्यों को समानता के सिद्धांत का विरोध करते हैं । इससे उनकी विकृत चेतना का पता चलता है ।

ईश्वर पर विश्वास और धर्म पर विश्वास दोनों अलग-अलग बातें हैं । जब ईश्वर पर विश्वास न रखते हुए धर्म पर, उसके नियमों पर ज़्यादा से ज़्यादा विश्वास करने लगते है तो लोगों में यह मजहबी मतवालापन उत्पन्न हो जाता है, जो मनुष्य-जाति के लिए खतरनाक है । लक्ष्मीनारायण लाल के "रक्त कमल" नाटक का कमला कहता है -"इस देश को अलग-अलग

---

1. डा. अम्बेदकर - एन के जोस - पृ. 97

टुकड़ों में बाँटने की जिम्मेदारी जितनी यहाँ के धर्मों की हैं उतनी जिम्मेदारी यहाँ के इतिहास को नहीं ।"[1] धर्म की इस नशीली ताकत का सियायत ने पूरा का पूरा इस्तेमाल किया है ।

राजनीति और धर्म का गलबाही संबंध

प्राचीन भारत में धर्म, राजनीति और अर्थ-व्यवस्था एक दूसरे से मिले-जुले थे । इन सब को मिलानेवाली व्यवस्था वर्णाश्रम व्यवस्था थी । वर्णाश्रम व्यवस्था एक साथ राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक व्यवस्था थी । फिर ज़माने गुज़रते रहे, अनेक विदेशी ताकतों ने भारत पर कब्जा कर लिया था और अपने-अपने शासन यहाँ पर थोपता रहा था । इन में अंग्रेज़ों ने भारत के धर्म और वर्णाश्रम व्यवस्था का सियासत में पूरा का पूरा इस्तेमाल किया था । आज आज़ादी के पाँच दशक गुज़र गए हैं अब भी मजहब और जाति को हमारे देश की राजनीति में सत्ता प्राप्ति का एक ताकतवर तरकीब समझी जाती हैं । जनता को मजहबी जंजीरों से मुक्ति पाने की दिशा दिखाना जन-नाटकों की अहम भूमिका है । इसलिए धर्म और राजनीति के गलबाही संबंध और दिग्भ्रमित होनेवाली जनता की चेतना की अभिव्यक्ति कतिपय नाटकों में हुए बिना नहीं रही ।

आज सियासत का मकसद सत्ता है । सत्ता-लक्षित सियासत में पैंतरेबाजी के बिना काम नहीं चलेगा । इसलिए वह हमेशा मजहब को अपने साथ लेता है । पुराने ज़माने में इन्द्र ने धर्म के नाम पर छल-कपट से हरिश्चन्द्र का राज्य हड़प लिया । लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक "एक सत्य हरिश्चन्द्र" में सियासत और मजहब के उस नापाकी रिश्ते को उभारा गया है । उधर

---

1. रक्त कमल - लाल - पृ. 42

धर्म-भीरू राजा को बड़ी चालाकी से सत्ताच्युत कर दिया जाता है । प्रस्तुत नाटक में लाल लिखते हैं -"इस प्रतारणा, शोषण और दंड का माध्यम कभी धर्म रहा है, कभी राजनीति । आज उस शोषण का स्वरूप संपूर्ण है - क्योंकि इस में धर्म का भय और राजनीति की हिंसा दोनों का संयोग है ।"[1]

मजहब हमेशा सबकुछ जबान संभालकर सहने का उपदेश देता है । आडम्बरपूर्ण सभी धर्म - निष्ठाओं के पीछे किसी-न-किसी रूप में यह उपदेश गुप्त रहता है कि कभी न सवाल उठाए । मजहबों के अनुसार मौत के बाद उन्हीं को ही जन्नत मिलेगा जो ज़िन्दगी भर विपत्तियों को आँखें मूँद कुबूल करने और बलिदान देने को तैयार हैं । इस तरह मजहब प्रश्नहीन समाज की रचना में लगे रहता है । हमारे राजनेता तो ऐसे प्रश्नहीन माहौल को ही चाहते हैं । "एक सत्य हरिश्चन्द्र" का रोहित धर्म की इस आडंबरपूर्ण निष्ठा और इसमें छिपे छल का खुलकर विरोध करता है । "मेरे लिए वह सत्य झूठ है, जिसके लिए जीवन भर विपत्तियों को झेलना पड़े । त्याग और बलिदान की सूली पर चढ़कर सत्य की परीक्षा देनी पड़े । मेरे लिए सत्य वही है जो सहज ही जीवन में जिया जा सके । जो जिया जा न सके वह झूठ है, धोखा है ।"[2] लक्ष्मीनारायण लाल के कलंकी नाटक में शासक अकुलधेम से अपना पुत्र हेरूप जब प्रश्न उठाता है तो उसे प्रश्नहीन बनाने की कई योजनायें बनवाई जाती है । नाटक की भूमिका में लाल लिखते हैं, "हर शासक, नियंता और अधिपति को अपने अस्तित्व के लिए किसी ऐसे ही मिथक का सहारा लेना पड़ा है । बल्कि इतना ही नहीं उसकी स्थिति अक्षुण्ण रहे, इसके लिए आवश्यक होंगे कि वह लोगों को उसी बहाने प्रश्नहीन कर दे ।"[3] मतलब है कि हर शासक

---

1. एक सत्य हरिश्चन्द्र - लाल - पृ. 8 (पूर्वरंग)
2. वही - पृ. 37
3. कलंकी - लक्ष्मीनारायण लाल - भूमिका पृष्ठ

अपनी प्रजा को दिशा भ्रमित करने एवं प्रश्नहीन बनाने के लिए मजहब का सहारा लेता है । मजहब जनता को यथार्थ से पलायन करने की प्रेरणा देता है । स्वर्ग की लालसा दिखाकर वर्तमान ज़िन्दगी में सबकुछ सहने का उपदेश वह देता है । यह मनुष्य को प्रश्नहीन बना डालता है और जो शासक वर्ग के लिए वरदान सिद्ध होता है । इस नाटक में अवधूत, तांत्रिक तंत्र शब्दावली का प्रयोग यथार्थ को छिपाने, प्रसंग को अप्रासंगिक बनाने एवं प्रत्यक्ष को रहस्यमय बनाने के लिए ही करता है । सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने "लडाई" में सत्यव्रत की शंकाओं का निवारण करने के बदले स्वामीजी उसे शंकाविहीन रहने का उपदेश देते हैं । सत्यव्रत बिना मेहनत का खाना लेनेवाले स्वामिजियों के जनविरोधी व्यवहार का खण्डन करते हुए कहता है, "जो धर्म शंका की अनुमति नहीं देता वह धर्म नहीं । तुम आदमी को विवेकशून्य बनाकर अपने गठे सांचे में ढालना चाहते हो । अब धर्म के नाम पर ऐसी तानाशाही नहीं चलेंगे । दूसरों की खुन-पसीने की कमाई पर मौज उडाना असली पाप है । वास्तव में पापी तुम हो । आप दूसरों के भय पर नींव डालते हैं । शोषण करते हैं ।"[1]

सत्ता तो पुराने ज़माने से मजहब को हथियार बनाकर अवाम का दोहन करती ही रहती है । अनेक प्रकार की रूढियाँ और अंधविश्वास दोहन को आध्यात्मिक पोशाक पहनाकर उसे मज़बूत बनाते हैं । इन का जन्म शोषक-शासकों की इच्छा के मुताबिक ही हुआ करता है । शोषकों को सुविधा पहुँचानेवाली कई पौराणिक कहानियाँ समाज में मौजूद हैं । "एक सत्य हरिश्चन्द्र" में रचनाकार का प्रमुख मकसद तो दोहन को बरकरार रखने में भूमिका तैयार करनेवाली उस कहानी को नई नज़रिए से देखना ही था । प्रस्तुत कहानी में दान की महिमा का जिक्र कर कूटनीति से अवाम को अपने धन-दौलत तथा अधिकार से वंचित किया जा रहा है । अवाम के लिए वर्तमान राजनीति पहले से

---

1. लडाई - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ.

ज़्यादा कष्टदायी हो गयी है । नाटक का जीतन कहता है -"हम सब हरिश्चन्द्र हैं तुम्हारी सत्ताधारी राजनीति में । वहाँ राजा इन्द्र एक था, यहाँ राजा इन्द्र असंख्य है । पुलिस, अफसर, नेता, पूँजीपति, दलाल, गुंडा... यही है तुम्हारी राजनीति ।"[1]

पूँजीपति वर्ग जिस तरह धर्म के नाम पर अवाम का शोषण करता है, उसका विस्तृत चित्रण रेवती सरन शर्मा के नाटक "राजा बली की नयी कथा" में मिलता है । समाज में मौजूद विभिन्न धार्मिक कथाएँ पूँजीपति वर्ग की शोषण-प्रक्रिया के औचित्य को सिद्ध करने के लिए बनाई गई कथाएँ है । प्रस्तुत नाटक में शोषक तथा लूट-खसोट करनेवाले वर्ग, पूर्वजन्म पुनर्जन्म तथा कर्म-फल की सुन्दर कहानियाँ कल्पित करके उस लूट को आध्यात्मिक रंग भर देते हैं । नाटक में एक किसान को अपहृत भूमि उसे वापिस दिलाने के लिए भगवान स्वयं अवतरित होता है । लेकिन यहाँ की न्याय व्यवस्था देखकर स्वयं भगवान को भी आश्चर्य होता है । भगवान जज से कहता है -"जिस तरह का न्याय तुम करते हो, हम उसके स्रोत नहीं ।"[2] भगवान को समझ जाता है कि जिसका राज रहा उसने अपने हित की कथाएँ इस समाज में चला दीं । नाटक की भूमिका में यों लिखा गया है -"यह कथा आज भी लोगों को दान और वचन की महिमा दिखाने के लिए सुनाई जाती है । इससे जो मनोवृत्ति पैदा होती है वह भगवान के खातिर अपना हक छोडने को है, लेकिन हक किसके लिए छोडा जाए, देवता के लिए या देश के लिए ? जाहिर है कि ऐसी कहानियाँ मिथ्या चेतना ही पैदा करती है । इससे शासकों के लिए शासितों का शोषण बहुत ही आसान हो जाया करता है ।"[3]

---

1. एक सत्य हरिश्चन्द्र - लाल - पृ. 59
2. रेवती सरन शर्मा - राजा बली की नयी कथा - पृ. 18
3. वही - भूमिका

वर्तमान में धर्म एक धन्धा बन गया है । धर्म के ठेकेदारों ने उसके अर्थ में भी मनमाने बदलाव कर लिए है । अपने नाटक "पेपर वैट" में रमेश उपाध्याय ने धर्म के नाम पर अपने उल्लू सीधा करनेवाले धूर्त पंडितों की कूट-नीति पर रोशनी डाली है । ये पंडित जनाक्रोश को दबाने और उन्हें बौद्धिक रूप से वशीभूत कराने के लिए धर्म का जाल फैलाते हैं । नाटक में एक पंडित सनातन धर्म में वर्णित चार व्रतों को मनमानी यों व्याख्या करते है- पहला, कमल व्रत अर्थात कमल की मानिन्द मोह माया के दूर रहना । लेकिन पंडितजी इसमें लिप्त हो रहता है । दूसरा है चन्दन व्रत अर्थात पिसते रहने पर भी सुगन्ध देते रहना । पंडितजो को इस बात का दुःख है कि आज कल लोग इस व्रत का पालन नहीं करते, और पंडितजो इस पर अपना दुःख यों प्रकट करता है -"किन्तु आज के श्रमिकों को देखिए, एक घंटा काम अधिक करने को कहा जाये तो हड़ताल कर देते हैं ।"[1] तीसरा क्षु व्रत है या ईश्वर के समान पिसते जाने पर भी मोठा रस देते रहना । लेकिन पंडितजी अपनी चिंता व्यक्त करते हैं -"आप लोग इस रस को महिमा को भी भूल बैठे हैं । इसलिए तनिक सा दबाव पड़ने पर शोषण-शोषण चिल्लाने लगते हैं ।"[2] चौथा व्रत है हेम व्रत या स्वर्ण व्रत जिससे तात्पर्य है कि जितना तपायेंगे, उतना ही चमकेगा । पंडितजो के अनुसार सांसारिक अर्थात भौतिक दुःखों और कष्टों को तो ईश्वर का वरदान मानकर स्वीकार करना चाहिए । इनसे जनता की आत्मा शुद्ध हो जायेगी, जीवन में शांति रहेगी, इहलोक सराहनीय बनेगा और परलोक सुधार जायेगा ।

इन उदाहरणों से जाहिर होता है कि सियासत को लहलहाने के लिए मजहब जन-मन की माटी को पकाना है । बदले में सियासत को भी मजहब के लिए बहुत कुछ करना ज़रूरी है । भीष्म साहनी के "कबिरा खड़ा

---

1. रमेश उपाध्याय - पेपर वैट - पृ. 58
2. वही

बाज़ार में" नाटक के एक महंत नीच जातों की बस्ती को पूरी तरह तबाह कर वहाँ अपने नये मठ की स्थापना करना चाहते हैं । कोतवाल उनके लिए सारी की सारी सुविधाएँ प्रदान करने का वचन भी देता है । वह कोतवाल जिसके पास जनता की हिफाजत का फर्ज और बागडोर है, जनता के खून चूसनेवाले मजहबी डाकुओं का आज्ञापालक बन कर रह जाता है । यहाँ अवाम की जानमाल को हिफाजत सरासर मिथ्या है । लेकिन राजनीति हमेशा प्रदेश-विशेष के धार्मिक माहौल के मुताबिक अपने पैंतरे बदलते रहते हैं । उदाहरण के लिए बाबरी मस्जिद का विध्वंस । वह दिन-दहाडे हुआ था । हमारी तीनों सेनाओं, अर्ध सेनाओं, पुलिसों के होने के बावजूद भी वे छितराये गये । धर्म निरपेक्षता का ऐलान करनेवाले हमारे देश का वह चेहरा धर्म और राजनीति के नापाक रिश्ते की याद दिलाता हो रहता है ।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'बकरी' नाटक में धर्म, शोषण, और राजनीति के प्रतिनिधित्व करनेवाले तीन पात्र, एक ग्रामीण औरत - विपत्तो को सामान्य सी बकरी को गाँधी की बकरी की परंपरा की अंतिम कडी घोषित कर हडप लेते हैं । फिर बकरी को देवी बनाकर मंदिर चलाते है, पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा आदि कार्यक्रम चलाते है जिससे धनार्जन भी करते हैं । अंत में चुनाव के वक्त बकरी पार्टी के चिह्न में तब्दील हो जातो है । इस तरह प्रस्तुत नाटक में बहुत ही प्रतीकात्मक ढंग से धार्मिक और आध्यात्मिक शोषण का चित्र प्रस्तुत किया गया है ।

सियासत और मजहब के नापा की रिश्ते को सबसे खतरनाक उपज है सांप्रदायिकता । सामंतवादी ज़माने में मजहब दोहन का हथियार था । पूँजीवाद में आकर मजहब ने शोषक वर्ग को सांप्रदायिकता का हथियार प्रदान किया है । आज़ादो के समय जो हिन्दु-मुस्लीम दंगे हुए, उनको लोग अभो भूले नहीं है । न जाने कितने बेगुनाह काट दिये गये, औरतें लूट ली गईं,

बच्चे अनाथ कर दिये गये । उन्हें लोग जैसे ही भूलने लगते हैं, कोई-न-कोई नया फ्साद खडाकर दिया जाता है । कभी भाषा के सवाल पर कभी राम जन्मभूमि के सवाल पर । कभी-कभी सरकुलेशन बढाने के लिए सनसनीखेज समाचार छापकर अखबारवाले भी अफवाह फैलाते हैं । सांप्रदायिक दंगों होते नहीं करवाए जाते हैं ।

अक्सर मजहब या धर्म के नाम पर रचनेवाले हत्याकांड धर्म-युद्ध कहलाया जाता है । इन धर्म युद्धों का ज़हर बहुत तेज़ होता है । और इस का असर भी तत्काल हुआ करता है । पीढियों से साथ-साथ ज़िन्दगी गुज़रने वाले, साथ गाने-बजानेवाले, दु:ख दर्द के साथी, ज़रा-सी दंगे की बात सुनते ही भडक उठते हैं । मजहबी पागलपन जब उनके दिमाग पर सवार होता है, इनसानियत के सब रिश्ते-नाते टूट जाते हैं । वे एक दूसरे के हत्यारा बन जाते है । सौहार्द भाव जलकर भस्म हो जाता है, दोस्ती दुश्मनी में तब्दील हो जाती है । एक दूसरे से भय और सन्देह इस सांप्रदायिकता को आग को और हवा देते हैं । भाई चारा समाज से गायब हो जाता है । सफदर हाश्मी के नाटक अपहरण भाई चारे का में सांप्रदायिकता की मुद्दे को उभारा गया है । प्रस्तुत नाटक में यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और राजनीति के नापाकी संबंध से साम्राज्यवाद किस प्रकार मुनाफा उठाता है । उस नाटक का हर पात्र प्रतीकात्मक हैं । सांप्रदायिकता नामक खतरनाक जानवर को तलाश में भारत आनेवाला अमेरिकी सरकस का रिंग मास्टर अमेरिकी साम्राज्यवाद का प्रतिनिधित्व करता है ।और तीन गुंडे हिन्दु, इस्लाम और सिख धर्म के नेताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

नाटक के शुरू में लोगों के बीच में से भाई चारे का अपहरण हुआ सुनाई पड़ता है । और जमूरा, जो भाई चारे की तलाश में निकलता है, अपना मकसद भूलकर अमेरिकी रिंग मास्टर को सांप्रदायिकता बढ़ाने के लिए हिन्दु सेनाभवन, भौज इस्लाम भवन और सिख सेना भवन से परिचय कर देता है । रिंग मास्टर तीनों सेनाओं को डोलर, हथियार वगैरह देकर देश में दंगा-फसाद उठाने की योजनाएँ रचता है । नाटक के अंत में रस्सियों में बन्धा हुआ भाईचारा आता है । उसकी रस्सियों में थामे हैं रिंग मास्टर और तीनों गुंडे । सांप्रदायिकता बढाने में साम्राज्यवादी ताकतों की इच्छा के पीछे कई मकसद होते हैं - दूसरें देशों की तरक्की को रोकना अपने आयुध-व्यापार के लिए बाज़ार बढ़ाना, दूसरे देशों की ताकत को शिथिल बनाकर अपनी ताकत को उन देशों के ऊपर बरकरार रखना आदि । इन सांप्रदायिक दंगों से आम जनता की सामूहिक शक्ति विशृंखलित हो जाती है । परिणाम स्वरूप शोषकों के खिलाफ एकजुट नहीं हो सकती ।

अध्याय : चार

मौजूदा व्यवस्था में आम आदमी का शोषण और उनके जुझारू तेवर

जनवादी नाटकों में आम आदमी पर किए जानेवाले शोषण की प्रक्रिया पर चर्चा की जाने के साथ-साथ इन शोषक तत्वों के खिलाफ आम आदमी की प्रतिक्रिया का भी चित्रण किया जाता है । हमारे देश की भोली-भाली आम जनता, सत्ता की खुमारी में मस्त राजनीतिज्ञों के शोषण की शिकार बनती जा रही है । और जब जनता शोषण की पराकाष्ठा पर पहुँचती हैं तो अत्याचारी व्यवस्था के खिलाफ आवाज़ उठाती है, अपने अधिकारों के प्रति अवगत हो जाती है, गुलामी मानसिकता से अपने आप को उबारने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है । आम जनता के शोषण के मूल कारणों की खोज भी नाटककारों ने की । जनवादी नाटकों में नज़र दौडाते वक्त हम को मालूम हो जाएगा कि अधिकांश नाटककारों की राय में जनता की अशिक्षा, अंधश्रद्धा, बिगडी हुई आर्थिक स्थिति, उनकी कायरता, सहनशीलता, प्रश्नहीनता एवं प्रतिक्रिया हीनता उनके शोषण का मूल कारण है जो शोषकों के लिए वरदान सिद्ध होते हैं ।

आम जनता में आत्म सुख को जो आसक्ति और सुविधाभोगी वृत्ति पनप रही है, उस पर भी नाटककारों की पैनी दृष्टि पडी है और इन कमज़ोरियों को बेनकाब किया है । युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त आम आदमी की परेशानियों को भी नाटककारों ने प्रस्तुत किया है । आम जनता की सुप्त चेतना को जगाकर उनकी त्रासद नियति के लिए जिम्मेदार ताकतों से निडर होकर लडने की प्रेरणा भी उन्होंने दी है । और यह चेतावनी भी दी है कि मौजूदा व्यवस्था में परिवर्तन लाना उतना आसान नहीं, और अकेले व्यक्ति का जागरण अभिशाप है ।

बुनियादी ज़रूरतों से वंचित आम आदमी

जनवादी साहित्य उन लोगों की समस्याओं पर ज़्यादा प्रमुखता देता है जो अपनी रोज़ की रोटी, कपडा और मकान पाने में असमर्थ रह जाते हैं । विडंबना यह है कि ये लोग खुद इन वस्तुओं के निर्माता होते हुए भी पूरी तरह इन से वंचित हैं और हमेशा जानवरों सी ज़िन्दगी जीने में अभिशप्त भी । दुनिया के उस अल्पसंख्यक लोगों की स्वार्थता ने बहुसंख्यकों की इस दयनीय वर्ग स्थिति को बनाया है । आम जनता की भूख और भय पर इन अल्पसंख्यक पूँजीपति लोगों ने अपने साम्राज्य की स्थापना की । तिरस्कृत जनता में जागरण न पैदा होने के लिए पूँजीपति वर्ग भौतिक एवं मानसिक रूप से नए-नए तरकीबों को ढूँढ निकालने में सफल हुआ । याने भौतिक रूप से अवाम को बुनियादी ज़रूरतों से वंचित रखना तथा मानसिक रूप से उन में अंधविश्वास और भय बरकरार रखना । जनवादी नाटककारों ने इन दोनों मुद्दों को मंच पर लाने का खूब प्रयास किया है ।

निम्न वर्ग के लोगों की अभावग्रस्त ज़िन्दगी का चित्रण जगदीशचन्द्र माथुर के नाटक "कोणार्क" में पाया जाता है । कोणार्क के कलाकार सिर्फ बादशाह की आज्ञा के अनुसार रसिक मूर्तियाँ बनाते रहते हैं । उन के सर्वस्व अपने पीछे छूट गए । वे अपने घर-बार, सगे-संबंधियों से पूरी तरह बिछुड रहते हैं । नाटक में धर्मपद का आगमन कलाकारों की मानसिकता में परिवर्तन लाता है । धर्मपद के उपदेश एवं मार्गदर्शन से उन कलाकारों में जीवनबोध एवं अन्याय के विरुद्ध लडने की इच्छा पैदा हो जाती है ।

समाज में मौजूद वर्ग-विभक्त स्थिति ही समाज में गरीबी, असमानता आदि का मूलभूत आधार है । स्वतंत्रता प्राप्ति के अवसर पर उस समय के भारतीयों ने सोचा था कि ब्रिटिश शासन के अंत होने पर और

हमारे शासन के आरंभ होने पर समाज में मौजूद गरीबी और असमानताओं का अंत हो जाएगा । लेकिन जब देशी शासन की शुरूआत हुई तो शासक वर्ग का एकमात्र एवं महत्वपूर्ण ध्यान वोट और कुरसी के ईर्द-गिर्द घूमने लगा । इस ने समाज में मौजूद असमानता को और अधिक विकसित होने दिया । गरीबों-अमीरों के बीच की दरार दिन प्रति दिन बढ़ती चली गयी । श्री गिरिराज किशोर कृत "प्रजा ही रहने दो" में शासकों के सत्ता मोह और जनता में बढ़ती गरीबी का चित्रण हुआ है । महाभारत की कथा पर आधारित इस नाटक में शुरू से अंत तक अभावग्रस्त जनता की आवाज़ परोक्ष रूप से सुनाने का प्रयास है । पांडव और कौरव अपने-अपने परिवार में देश की सत्ता को नियंत्रित रखने के लिए जुआ खेल में मग्न रहते हैं । इस राजनीतिक खेल में देश की जनता की ज़िन्दगी को कोई भी प्रधानता नहीं मिलती है । जब राजमहल में खेल ज़ारी है तो देश के विभिन्न कोनों से आम जनता की रुलाई सुनी जाती है । शासकों के लिए जनता की पीडा नगण्य है, सिर्फ सत्ता ही सर्वस्व है । यह किसी भी शासन तंत्र के लिए लज्जा की बात है कि प्रशासन जो जनता की रक्षा और सुविधाओं के लिए निर्मित होता है, उसी का उत्पीडन करे ।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के नाटक "अब गरीबी हटाओ" में अभावग्रस्त जनता की दयनीय स्थिति एवं राजनेताओं द्वारा उन के विराट शोषण का चित्रण हुआ है । प्रस्तुत नाटक में मध्ययुगीन राजशासन और आधुनिक जनतंत्र दोनों में गरीबों की हालत की तुलना करते हुए यही साबित किया गया है कि गरीबों की आधुनिक तथा मध्यकालीन स्थिति में कोई फरक नहीं है । नाटक के एक दृश्य में गाँववाले दलित, राजा के सामने एक कुए की माँग रखते हैं । दलितों के लिए कुआ इसलिए नहीं है कि कुए को खुदवाने के लिए दलितों को अपनी ज़मीन नहीं है । हमारे देश में भूमिहीनों की शुमार कम नहीं है । भूमिहीनों की समस्या भी कम नहीं है । लेकिन वे भी भारतीय को

संज्ञा के अंतर्गत आते हैं । एक भूमिहीन व्यक्ति का स्थाई भाव हमेशा भय होगा । वह स्वयं को असुरक्षित समझता है । इसी वजह से उस व्यक्ति की चिंतन, संस्कृति, प्रतिक्रिया, जीवन-दृष्टि आदि अलग ढंग की है । उसकी चेतना में गुलामी मानसिकता की गहरी पकड़ हैं । ये सब शोषक ताकतों के खिलाफ आवाज़ उठाने से उसे रोकते हैं । नाटक में "गरीबी हटाओ" नारे के खोखलेपन का पर्दाफाश किया गया है । गरीबी देश की एक वास्तविकता है और शोषक तत्वों का अस्तित्व भी एक वास्तविकता है । यहाँ गरीबी और शोषक वर्ग के साथ एक कार्य-कारण संबंध अवश्य है । जब तक शोषकों का अस्तित्व है, गरीबी भी ज़रूर रहेगी । लेकिन विडम्बना यह है कि नाटक में शोषक वर्ग ही (राजनेता और राजनीतिक दल) "गरीबी हटाओ" नारा लगाते हैं । अज्ञता, अंधविश्वास, राजनीतिक समझदारी की कमी आदि की वजह से गरीब आदमी इन खोखले नारों पर पूरा भरोसा रख देता है और पूरी तरह उस जाल में फँस जाता है । नाटक के अंत में नाट्यकार जन सामान्य को यह आह्वान करते हैं कि गरीबी हटाने के लिए जनता को खुद जागृत होना चाहिए ।

ज्ञानदेव अग्निहोत्री अपने नाटक "शुतुरमुर्ग" में आम आदमी की अभावग्रस्त ज़िन्दगी का वर्णन करने का प्रयास करते हैं । यहाँ शोषितों की प्रतिक्रिया पर भी ज़्यादा ज़ोर दिया जाता है । नाटक में महत्वाकांक्षी शासकों के सिर फिरे शासन और नागरिकों की धूल धूसरित ज़िन्दगी की चर्चा हुई है । देश भर में जनता अपनी बुनियादी ज़रूरतों से वंचित रहकर जानवरों की सी ज़िन्दगी जीती है । राजा तो जनता के धन का उपयोग करते हुए अपनी शान बढ़ाने का तरकीब ढूँढते हैं । सरकार का धन जनता का धन है - विभिन्न करों के रूप में बटोर किए जानेवाला धन है । आजकल हम देख सकते हैं कि शासक वर्ग जनता के इस धन का दुरूपयोग कर रहा है । गरीबी दूर करने, रोज़गार पैदा करने, जनता के स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने

आदि के लिए लायक योजनाएँ बनाना चाहिए । लेकिन शासक वर्ग जनता के इस धन को गरीबों तथा बेरोज़गार युवकों की तरफ से उबरने वाले विद्रोह को किसी तरह दबाने के लिए इस्तेमाल कर रहा है । इस नाटक में राजा अपनी प्रजा के विरोध को दबाने में सफल निकलते हैं । लेकिन अंत में पीड़ित एवं पूरी तरह शोषित जनता राजा की तानाशाही के ऊपर विजयी बन जाती है । मतलब है कि कोई भी शासक जनता के विरोध को एक हद से ज़्यादा दबा नहीं रख सकता । क्योंकि अंत में शोषित-से-शोषित वर्ग स्वयं उठकर आयेगा और उस की संगठित ताकत के सामने कोई भी शासक विचलित न रह सकेगा ।

बुनियादी ज़रूरतों से वंचित आदमी की समस्या की विस्तृत चर्चा लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में भी हुई है । "एक सत्य हरिश्चन्द्र" , "रक्त कमल" जैसे नाटक इस के लिए उदाहरण हैं । "एक सत्य हरिश्चन्द्र" का लौका एवं "रक्त कमल" का कमल दोनों समाज के उत्पीड़ित, अभावग्रस्त लोगों के पक्षधर हैं । लौका तो नीच जातवाला ही है और पूरे नाटक के माहौल में आम जनता की वह अभावग्रस्त स्थिति विद्यमान है ।

श्री व्रजमोहन शाह कृत "त्रिशंकु" में आपातकालीन भारत के चित्र को दिखाने की कोशिश है । नाटक के आरंभ में ही बुनियादी ज़रूरतों से वंचित जनता का चित्रण है । यहाँ राजा के सामने निम्न वर्ग के लोग रोटी और कपड़े माँगते हैं । तब राजा कहते है कि यह सरासर पागलपन है । राजा उस नंगी-भूखी-अनपढ़ जनता को वहाँ से भगाते हैं । इस तरह व्रजमोहन शाह ने अपने इस नाटक में गरीबों की दयनीय वर्ग स्थिति तथा उन पर शासकों की दमन नीति को अनावृत कर दिया है ।

समाज के हाशिये में पड़े हुए लोगों की बदहाली को चित्रित करने तथा इस वर्ग स्थिति को हमेशा के लिए बरकरार रखने की कोशिश करनेवाली

ताकतों के खिलाफ जनचेतना पैदा करने में नाटकार सफदर हाशमी में विशेष प्रतिभा है । उनके अधिकांश नाटकों में बुनियादी ज़रूरतों से वंचित जनता को स्थान दिया गया है । इस कोटि के नाटकों में "मशीन" और "हल्ला बोल" विशेष उल्लेखनोय है । "मशीन"में मज़दूरों को एक श्रमिक के पुर्जे के रूप में दिखाया गया है । श्रमिक लोग दिन-रात मिल मालिकों के लिए काम करते हुए मशीन के पुर्जे की तरह पिसते टूटते रहते हैं । पूँजोवादी समाज में एक श्रमिक का दर्जा एक मशोनी पुर्जे से ज़्यादा नहीं होता । जब उत्पादन की क्षमता नष्ट हो जाती है तब यह मशीनो पुर्जा दूर फेंक दिया जाता है । हाशमी ने अपने नाटक में इस मानवीय त्रासदी को बडे ही सशक्त रूप में उभारा है । श्रमिक मशीनी पुर्जा इसलिए बनता है कि उन्हें जीने के लिए अपने पास अपने शरीर के अलावा और कुछ नहीं है ।

"हल्ला-बोल" हाशमी का एक बहुचर्चित नुकड नाटक है । इस नाटक में भी श्रमिक वर्ग की मैली ज़िन्दगी पर प्रकाश डाला गया है । यहाँ दिल्ली के मज़दूरों की ज़िन्दगी का वर्णन है । सुबह से शाम तक कमर तोड काम करने पर भी इन लोगों को पेट भर खाने के लिए मिलता नहीं । नाटक का आरंभ, "जोगी" नामकमज़दूर की शादी के बारे में चलनेवाली चर्चा से होता है । बेटी की माँ का कहना है कि मज़दूर के साथ शादी करने का मतलब है जीते जी मर जाना । क्योंकि यहाँ के श्रमिक लोग दूसरों की सुविधाओं के लिए अपनी लहू पसीने में परिवर्तित करने के बावजूद उन्हें ऐसी सुविधाएँ नहों मिलती है जो यहाँ के जानवरों के लिए भी उपलब्ध है । जोगी श्रमिकों को इस अभाव-ग्रस्त ज़िन्दगी को देखकर कह उठता है ।

"जोगी : अरे यह कचहरे की डिब्बा भी कोई मकान है ?

अभिनेता । : और क्या, चारों तरफ गंदगी ही गंदगी है ।

अभिनेता 2 : पीने का पानी और गट्टर के पानी में कोई अंतर नहीं है ।

अभिनेता 3 : आधी से ज़्यादा झुग्गियों में बिजली भी नहीं है ।"[1]

---

1. सफदर हाशमी - हल्ला बोल - जननाट्य मंच द्वारा प्रकाशित"सफदर"- पृ. 110

इस प्रकार दूसरों की सुख-सुविधाओं के लिए कमर तोडकर काम करने पर भी अपनी बुनियादी ज़रूरतों को भी प्राप्त करने में असमर्थ लोग भारत के गाँवों तथा शहरों में भी जी रहे हैं ।

राजेश कुमार कृत "सवा सेर गेहूँ" मुंशी प्रेमचन्द की कहानी का रूपांतरण है । यहाँ शंकर नामक गरीब किसान के माध्यम से अभावग्रस्त आदमी की ज़िन्दगी पर प्रकाश डालने का प्रयास हुआ है । शंकर के घर पर दिन में दो बार खाने तक के लिए कुछ भी नहीं है । इसलिए शंकर के घर पर एक साधु का भीख माँगकर आते वक्त उसको खिलाने के लिए शंकर को एक पंडित के यहाँ से सवा सेर गेहूँ उधार लेना पडता है । उस सवा सेर गेहूँ के बदले में उसे अपनी पूरी ज़िन्दगी में पंडित का बन्धुआ मज़दूर बनना पडा ।

गरीबी के दूषित चक्कर में पडी हुई आम जनता की दयनीय स्थिति को उजागर करने के लिए स्वातंत्र्योत्तर कालीन हिन्दी नाटककारों ने खूब प्रयास किया है । उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा इस सामाजिक बदहाली को रचनेवाली ताकतों के खिलाफ जनचेतना को निदेशित करने का प्रयास भी किया है । जनवादी नाट्यकारों के अनुसार आम जनता की इस वर्ग स्थिति का प्रमुख कारण अपनी अज्ञता, अंधविश्वास, निरक्षरता, प्रश्नहीनता, प्रतिक्रिया हीनता आदि है । इसलिए शोषणकारी ताकतों के लिए मदद देनेवाली इन मुद्दों पर भी नज़र फेरना ज़रूरी है ।

निरक्षरता और अज्ञता

समाज में व्याप्त शोषण का सबसे प्रमुख कारण निरक्षरता और अज्ञता है । एक निरक्षर व्यक्ति का शोषण आसानी से किया जा सकता है । इसलिए शोषणकारी ताकत समाज में हमेशा अज्ञता को बरकरार रखना चाहती है । विश्व के इतिहास में इसके लिए कई उदाहरण मिल सकते हैं ।

वैदिक काल में समाज के निचले स्तर के लोगों को शिक्षा प्राप्त करने को इजाजत नहीं थी । क्योंकि शिक्षा प्राप्त होने से आदमी में प्रश्न उठाने की ताकत मिल जाती है । यह शोषकों के लिए अच्छा नहीं है । इसलिए तत्कालीन सत्ताधारी वर्ग ने शोषितों को विद्या अर्जित करने से रोका था । स्वातंत्र्योत्तरकालीन जनवादी नाटकों में आम जनता की अज्ञता और शोषण प्रक्रिया के अंत:संबंध के बारे में विस्तृत चर्चायें की गई हैं ।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के "बकरी" नाटक में निरक्षर ग्रामीण जनता पर होनेवाले विराट शोषण का दृश्य है । यहाँ विपत्ति नामक एक ग्रामीण युवती की बकरी को गाँधीजी की बकरी कहलाकर कुछ लोग हडप लेते हैं । यहाँ विपत्ति अपनी बकरी को वापस लेने के लिए कुछ भी नहीं कर सकती । विपत्ति सब लोगों के सामने चिल्लाकर कहती है कि वह बकरी उसकी अपनी है । लेकिन कोई भी लोग उसकी बात मानने के लिए तैयार नहीं है । क्योंकि सब लोग विश्वास कर रहे हैं कि वह बकरी गांधीजी की बकरी है । नाटक में बकरी माता का मंदिर बनाने और बकरी को एक राजनीतिक दल के चिह्न में तब्दील करने के दृश्य हैं । ये सब समाज के शोषणकारी शक्तियों द्वारा किए जाते हैं । लेकिन हम समझ सकते हैं कि इन करतूतों की बुनियाद आम जनता की निरक्षरता और अज्ञता है ।

"गाँव से शहर तक" नाटक द्वारा सफदर हाशमी ने भी इस मुद्दे को उभारा है । इस में कलुआ नामक एक किसान की ज़मीन महाजन और चौधरी छीन लेते हैं । और वह नौकरी ढूँढकर शहर आता है तो शहर की स्थिति और भी अधिक दयनीय लगती है । यहाँ महाजन और चौधरी शोषकों के प्रतिनिधि हैं । कलुआ की ज़मीन शोषकों द्वारा इसलिए छीन ली जाती है कि कलुआ अनपढ़ है । यह केवल एक कलुआ की कहानी नहीं है भारत की अधिकांश जनता की कहानी है ।

निरक्षर व्यक्तियों के साथ सूद पर पैसा देनेवाले लोग और महाजन धोखा करते हुए ज़्यादा धन हडप लेते है । राजेश कुमार के नुक्कड नाटक "सवा सेर गेहूँ" में इस धोखेबाजी का नंगा चित्रण है । इस नाटक में "शंकर" एक पंडित से उधार लेनेवाले सवा सेर गेहूँ के बदले में पन्चासों सेर लौटा देने के बाद भी उसे बताया जाता है कि साठे पाँच मन गेहूँ और बकाया है । ब्याज तथा स्टाँप आदि का कुल मिलाकर तीन सौ तीन रूपये तय कर दिये जाते हैं । इस रकम को न चुका पाने के बदले में शंकर से और उसके मरने के बाद उसके बेटे मंगल और पत्नी से बेगार ली जाती है । इस तरह कतिपय नाटकों में निरक्षर जनता पर किए जानेवाले दोहन का फर्दाफाश किया गया है ।

निरक्षरता और अज्ञता एक जनतंत्रात्मक समाज निर्माण में बाधा बनाती है । एक जनतंत्रात्मक देश की बुनियाद उस देश की जनता की साक्षरता पर खडी होती है । इसलिए सभी प्रगतिशील आन्दोलनों ने निरक्षरता के निवारण के लिए ज़्यादा ध्यान दिया है । और जनविरोधी ताकतों ने समाज में अज्ञता बनाये रखने योग्य हर क्रियाकलाप को प्रोत्साहन दिया है । धर्म, अंधविश्वास, सांप्रदायिकता आदि का इस्तेमाल करते हुए इन शक्तियों ने हमेशा समाज में असुरक्षा और अज्ञता फैलाने का प्रयास किया है । जनवादी नाटकों में ऐसी प्रगतिविरोधी प्रवृत्तियों को समाज से दूर करने और आदमी में अपने जीवन की पहचान जगाने की कोशिश विद्यमान है ।

अनपढ ग्रामीणों की अंधश्रद्धा

भारत गाँवों का देश है । गाँव की आबादी के अधिकांश लोग अनपढ है । इन लोगों के बीच अनेक प्रकार के सामाजिक एवं धार्मिक अंधविश्वास मौजूद है । ये अंधविश्वास उनकी चिंतन एवं व्यवहार में गहरा असर छोड देते हैं । ये सब शोषकों के लिए वरदान सिद्ध होते हैं । सर्वेश्वर

दयाल सक्सेना के बकरी नाटक की युवति विपत्ति की बकरी छीन लिये जाने का प्रमुख कारण ग्रामीण जनता के मन में मौजूद अंधश्रद्धा है । यहाँ धर्म, शोषण और नेतागिरी के प्रतिनिधित्व करनेवाले तीन पात्र गांधीजी के नाम पर बकरी का अपहरण करते हैं । जाहिर है कि एक औसम ग्रामवासी के लिए धर्म, नेता आदि बहुत ही श्रद्धेय हैं । ग्रामीण जनता की उसी अंधश्रद्धा को शोषक वर्ग शोषण का सबसे सरल मार्ग समझता है ।

विशेषकर शोषक वर्ग यहाँ गांधीजी के नाम की आड में जनता का सामना करता है । गाँधीजी के अनुयायी का मुखौटा पहनकर आनेवाले शोषक वर्ग को अनपढ ग्रामीण जनता गाँधीजी के समान देखती है और आदर करती है । हम जानते हैं कि स्वाधीनता के बाद गाँधीजी के नाम पर आनेवाले नेतागण भोली-भाली एवं अशिक्षित जनता को लूटते रहते थे । नाटक में छीन ली गयी बकरी को गाँधीजी की बकरी की परंपरा की अंतिम कडी कहकर जनता का मानसिक एवं आर्थिक शोषण करनेवाले गुण्डों में हम उपर्युक्त नेताओं को देख सकते हैं ।

राजेशकुमार कृत "सवा सेर गेहूँ" में भी जनता की अंधश्रद्धा की वजह से पैदा होनेवाली शोषण प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है । अपने घर में एक साधु के आगमन के समय गरीब शंकर अपने परिवार की वर्तमान हालत को पूरी तरह भूल कर किसी तरह साधु को अच्छा भोजन प्रदान करना चाहता है । घर पर दिन-में दो बार खाने के लिए भी कुछ भी नहीं है । फिर भी उसकी अंधश्रद्धा ने साधु को खिलाने के लिए किसी दूसरे व्यक्ति के यहाँ से गेहूँ उधार लेने को विवश किया है । शंकर का बेटा अपने पिता के इस विवेकरहित व्यवहार का विरोध करता है ।और साधुओं के इस शोषण पर कठोर व्यंग्य भी करता है । इस अवसर पर शंकर के मुँह से उच्चरित होनेवाले शब्दों में एक औसत ग्रामीण व्यक्ति की अंधश्रद्धा अनावृत हो जाती है ।

शंकर मंगल से यों कहता है -"कैसी बातें करता है । साधु महात्मा को कुवचन नहीं बोलते । हम लोगों का भाग है कि वे हमारे यहाँ आते हैं । साधु महात्मा के भेस में कब भगवान दर्शन दे दें, कौन जानता है ?"[1]

शंकर की अंधश्रद्धा ने उसे अपने पूरे जीवन में एक पंडित का बन्धुआ मज़दूर बनाया

भीष्म साहनी के "कबिरा खडा बाज़ार में" में अंधविश्वास में डूबे हुए, पागलपन की सीमा पर खडे होनेवाले लोगों का चित्रण है । इस नाटक में एक महंतजी के आगमन का दृश्य है । चाँदी की पालकी में आनेवाले महंत की रास्ता गंगाजल छिडक कर पवित्र बनायी जाती है । महंतजी अपने मुँह में पानी भर कर सामने की ओर दर्शकों की दिशा में कुल्ला करते हैं । तब भक्त जन भाग भाग कर कुल्ले की पानी से सनी मिट्टी को तर्जनी से उठा कर माथे पर लगाते हैं । महंत के चरणों को धोने पर नीचे गिरनेवाला जल अनेक स्त्री-पुरूष अंजुली में ले लेकर पीते हैं, मस्तक पर धारण कर लेते हैं । यह एक औसत भारतीय गाँव का असली चित्रण है । धर्म को शोषण का मार्ग समझनेवाले इन झूठे महन्तों, स्वामियों को आम जनता की तरफ से कितना आदर प्राप्त होता है । इसका प्रमुख कारण तो जनता की अशिक्षा है । जनता की इस अंधश्रद्धा का लाभ उठाकर ये धार्मिक पाखंडी लोग समाज में अपनी सत्ता बनाये रखने में काबिल हो जाते हैं । आम लोग ही क्यों, हमारे राजनेता एवं मंत्री लोग भी महन्तों के चरण स्पर्श मिलने के लिए देश के चारों ओर माथे झुक कर खडे होते हैं ।

स्पष्ट है कि जनता की अशिक्षा और अंधश्रद्धा देश में असुरक्षा, असमता, शोषण, सांस्कृतिक मूल्य-विघटन आदि के लिए कारण बन जायेगी । यह जनता को एकत्रित होने में बाधा डालती है और जनता की शक्ति को

---

1. नुकड नाटक - संपादक चन्द्रेश - पृ. 5

शिथिल बना देती है । यह शोषणकारी ताकतों को विकसित होने के लिए रास्ता बना देती है । जनवादी साहित्य में जनता को अज्ञता और अंधश्रद्धा को बेडियों से मुक्त कराने की प्रबल इच्छा होती है । हिन्दी के साठोत्तरी नाटकों में, विशेषकर नुक्कड नाटकों में यह प्रवृत्ति विद्यमान है ।

भाग्यवाद पर अडिग विश्वास

भारत के अधिकांश दर्शन, विशेषकर धार्मिक दर्शन इहलोक की अपेक्षा परलोक को ज़्यादा महत्व दे देते हैं । स्वर्ग, नरक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, कर्म फल आदि का उल्लेख करते हुए आदमी को अपने वर्तमान जीवन से दूर ले जाते हैं । इसलिए वर्तमान ज़िन्दगी में आनेवाली समस्याओं को पूर्वजन्म का फल समझकर अकर्मण्य रहने तथा उससे मुक्ति मिलने हेतु भाग्य की प्रतीक्षा करने के लिए उसे विवश करता है । जो शोषणकारी व्यवस्था के खिलाफ आवाज़ उठाने से आदमी को विमुख कर देता है । भाग्यवाद पर अडिग विश्वास रखनेवाली जनता दोषी व्यवस्था में परिवर्तन लाने की कोशिश करने के बजाय भाग्य का इन्तज़ार करते ही रहेगी । जनवादी नाटक इस भाग्यवादी मानसिकता का पूरी तरह विरोध करता है ।

समाज में भाग्यवादी मानसिकता बरकरार रखने में जनविरोधी ताकतों की महत्वपूर्ण भूमिका है । जनता में ऐसी मानसिकता को विकसित होने देना, सत्ताधारी वर्ग के लिए ज़रूरी है । लक्ष्मी नारायण लाल के कलंकी नाटक में इस विषय की चर्चा हुई है । नाटक के राजा अकुलक्षेम अपनी प्रजा को मंत्र-तंत्र नाद आदि से प्रतिक्रिया विहीन एवं प्रश्नहीन बना देते हैं । परिवर्तन विरोधी अकुलक्षेम अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए कलंकी के अवतरित होने का विश्वास दिलाकर प्रजा को मूर्ख बनाता है । प्रजा भी शासक की बातों पर विश्वास रखकर अपनी समस्याओं का समाधान ढूँढना छोड देती है । संपूर्ण

प्रजा अकुलक्षेम द्वारा रचे हुए उस मोहजाल में फँस रहती है । मतलब यह है कि ऐसे मोह जालों को रचनेवाला वर्ग शासक वर्ग है ।

अकुलक्षेम ऐसे मोहजाल का प्रयोग इसलिए करता है कि यथार्थ से पलायन करने, प्रसंग को अप्रसंग बनाने, प्रत्यक्ष को रहस्यमय बनाने में सुविधा हो सके । अकुलक्षेम का पुत्र हेरूप यों कहता है -"संभवतः सारे रहस्य का यही था लक्ष्य । मनुष्य को पहले दिशाहीन करना, वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर निर्वीर्य कर उन्हें शव बना देना, फिर उनकी गणना करते रहना ।"[1] मतलब है कि जनता को भाग्यवादी बनाने के प्रयास का उद्देश्य शासक को अपनी सत्ता बनाये रखना ही है । अपनी पूरी समस्याओं के समाधान के लिए कलंकी के अवतार की प्रतीक्षा करनेवाली जनता के माध्यम से श्री लक्ष्मीनारायण लाल ने भाग्यवादी मानसिकता के दुष्परिणामों की ओर संकेत किया है ।

"सवा सेर गेहूँ" का शंकर, स्वदेश दीपक के सबसे उदास कविता नाटक का डा. सुकांत जैसे पात्र भाग्यवादी लोगों के उदाहरण हैं । शंकर अपनी पूरी बदहालियों को ईश्वर द्वारा प्रदत्त मानता है । "सवा सेर गेहूँ" के लिए पूरी ज़िन्दगी में गुलाम बनकर जीनेवाले शंकर का विश्वास है कि इन सब का मूल कारण अपने पूर्व जन्म का पाप है । "सबसे उदास कविता" के सुकांत में एक भाग्यवादी काम कर रहा है । एक डाक्टर होने पर भी वे भाग्यवादी मानसिकता द्वारा पूरी तरह "हिप्नोटाइस्ड" हैं । इसलिए अपने चारों ओर घटित होनेवाली घटनाओं को वे स्वतंत्र रूप से नहीं देख सकते । गाँव के गरीब एवं पीडित लोगों की दयनीय स्थिति को दोषी व्यवस्था का दुष्परिणाम मानने को वे तैयार नहीं हैं । और वे पीडित लोग अपनी मुक्ति के लिए शस्त्र का रास्ता ढूँढने पर वे उसे पाप समझते हैं ।

---

1. लक्ष्मी नारायण लाल - कलंकी - पृ. 16

उनके अनुसार मृत्यु का फैसला एकमात्र भगवान ले लेता है । डा.सुकांत और अपूर्वा के बीच का यह संवाद उनकी भाग्यवादी नज़रिये पर प्रकाश डालता है ।

सुकांत : अब जिन्दगी और मौत के फैसले तुम करोगी ? भगवान हो गई हो क्या ?

अपूर्वा : न । कभी नहीं करते भगवान मृत्यु का फैसला । यह पंडितों और राज करनेवालों का फैलाया झूठा विश्वास है, झूठा मिथ है ।"[1]

डॉ.सुकांत मौजूदा न्याय व्यवस्था को भी दोषरहित एवं पापरहित मानते हैं । उनका विश्वास है कि सभी समस्याओं पर न्याय व्यवस्था सही फैसला लेती है । गाँव में खेतीहर मज़दूरों की हत्या एवं बीस स्त्रियों को विवस्त्र बनाकर पाँच किलोमीटर का परेड करवानेवाले डी.एस.पी.को अपूर्वा की अगुवाई में चार युवक मार डालते हैं । डी.एस.पी. को अपूर्वा और अपने साथी के द्वारा दिए गए मृत्यु दण्ड की खबर सुनकर सुकान्त यों पूछते है -

सुकांत : "तुम कौन होती हो दण्ड देनेवाली ? जज हो क्या ?"[2] तब अपूर्वा जवाब देती है "अगर एक मोटी सी सैलरी पाकर, झूठी गवाहियाँ सुनकर जज फांसी की सजा दे सकते हैं तो मैं क्यों नहीं दे सकती मृत्यु दंड ।"[3]

बेरोज़गारी

बेरोज़गारी हमारे देश की सबसे बड़ी समस्या है । दिन प्रतिदिन शिक्षित बेरोज़गारों की कतार लंबी होती जा रही है । यहाँ के विभिन्न राजनैतिक दल नौकरी देने के झूठे वचन देकर इन बेरोज़गार युवकों को अपने दल में फँसाने की कोशिश कर रहे हैं । दूसरी ओर यहाँ के नौकरशाह नौकरी ढूँढनेवाले युवकों को दिन-दहाड़े लूट रहे हैं । देश में प्रतिदिन बढ़ती जा रही बेरोज़गारी पर जनवादी नाट्यकारों ने विशेष ध्यान दिया है ।

---

1. स्वदेश दीपक - सबसे उदास कविता - पृ.38
2. वही - पृ.38
3. वही - पृ.39

सफदर हाश्मी कृत "राजा का बाजा", "हल्ला-बोल", ब्रजमोहनशाह कृत "त्रिशंकु" जैसे नाटकों में बेरोज़गारी की समस्या पर ज़ोर दिया गया है ।

नौकरी मिलने के लिए रिश्वत देना एक अलिखित नियम बन गया है । शिक्षित बेरोज़गारों की बढ़ती शुमार के कारण नौकरी ढूँढनेवालों से किसी भी तरह ज़्यादा से ज़्यादा पैसा रिश्वत के रूप में हडप लेने की प्रक्रिया भी निरंतर बढ़ती जा रही है । सफदर हाशमी के राजा का बाजा नाटक में नौकरी दिलवानेवाले अधिकारियों के रूप में आनेवाले पाँच दानवों के माध्यम से इस क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार का पर्दाफाश करने का प्रयास हुआ है । नाटक का एक पात्र रामेश्वर दर्शकों से अपना अनुभव यों सुनाता है -"मैं तीस इंटरव्यू दिये हैं । तीसों बार मुझसे ऐसे सवाल पूछे गए जिनका मेरी पढ़ायी से कोई संबंध नहीं था । तीसों बार मैं नाकामयाब हो लौटा । तीसों बार नौकरी सिफारशी आदमी को मिली ।"[1]

ब्रजमोहनशाह कृत "त्रिशंकु" नाटक में नौकरी माँगनेवाले बेरोज़गार युवकों पर राजा के आदेश पर अश्रु-गैस छोडने तथा गोली चलाने का दृश्य है । "त्रिशंकु" में चुनाव जीतने के लिए भ्रमपूर्ण नारे लगाकर बेरोज़गार युवकों को वश में करनेवाले आधुनिक राजनेताओं की राजनीतिक पैंतरेबाजो का बडा व्यंग्यात्मक चित्रण हुआ है । भारतीय राजनेता किस प्रकार बेरोज़गार नवयुवकों को विभिन्न प्रकार के प्रलोभनों द्वारा पदभ्रष्ट करते हुए अपने स्वार्थ साधते हैं । इसका स्पष्ट चित्रण नाटक के लीडर के माध्यम से किया गया है । लीडर युवकों के सामने देश में व्याप्त बेरोज़गारी और गरीबी पर अपना अदम्य दु:ख व्यक्त करते हुए कहता है -"हम जानते हैं अमीरी गरीबी मुलक की सबसे बडी समस्या है, शत्रु है । यह खत्म होनी ही चाहिए । इसलिए कहते हैं,

---

1. सफदर हाशमी - राजा का बाजा - जननाट्य मंच द्वारा संपादित "सफदर" - पृ. 154

गरीबी हटाओ ।"[1] लीडर अपने दल में शामिल होने का प्रलोभन देते हुए कहता है -"तुम्हें चुनाव लडा सकते हैं, चुनाव में हार गए तो राजदूत बना सकते हैं, चुनाव जीतते ही किसी मिल मालिक या ठेकेदार से पाँच हज़ार क्या पचास हज़ार का नकद दिला देना हमारे बायें हाथ का खेल है ।"[2]

बढ़ती आबादी और बेरोज़गारी का लाभ उठाते हुए पूँजीपति वर्ग मज़दूरों द्वारा ज़्यादा काम करवाते हुए सबसे न्यूनतम पकडाते हैं । "हल्ला बोल" नाटक में दिल्ली के फाक्टरी में वहाँ का मालिक 562 पर मज़दूरों का अंगूठा लगवाकर 360-400 पकडा देने का दृश्य है । इस प्रकार गुलाम की तरह काम करनेवाले मज़दूर अपने मालिक के सामने कोई एतराज नहीं प्रकट कर सकते । क्योंकि वेतन कितने भी कम हो, काम करने के लिए तैयार बेरोज़गार लोग बाहर खड़े होते हैं ।

बेरोज़गारी हमारे देश की एक अंतहीन समस्या है । बेरोज़गारी देश की युवापीढ़ी समाज विरोधी ताकतों के चंगुल में फँस जाएगी । बेरोज़गारी दूर करने के लिए सरकार द्वारा योजनायें बनाना ज़रूरी है । लेकिन जब तक देश की सरकार पूँजीवादियों की पकड से मुक्त नहीं हो जायेगी, बेरोज़गारी की समस्या जैसे की तैसी रह जायेगी ।

प्रश्नहीन एवं प्रतिक्रियाविहीन जनता में अपने जीवन की पहचान जगाना

जनवादी नाटकों का मकसद आम-जनता की आँखों को खुलाना है । जनवादी नाटकों में चर्चित विषय, प्रयुक्त भाषा, मंचन की शैली आदि के मूल में समाज के पीडित वर्गों में अपने प्रति पहचान जगाने की

1. बृजमोहनशाह - त्रिशंकु - पृ. 87
2. वही

प्रबल इच्छा दिखायी पड़ती है । जनवादी नाटककारों के अनुसार जनता की समस्याओं का कारण उसकी अज्ञता, अकर्मण्यता, राजनेताओं तथा शासक वर्गों के प्रति अंधश्रद्धा मौजूदा व्यवस्था में अडिग विश्वास आदि हैं । जब जनता में अपनी ज़िन्दगी की पहचान जागृत हो जाती है तो अपने चारों ओर के शोषण के प्रति सही जानकारी प्राप्त होती है । यह जानकारी उसे प्रतिक्रियाशील बनाती है । स्वातंत्र्योत्तर कालीन सभी जनवादी नाटकों में कोई न कोई प्रकार जागृत होनेवाली जनता का चित्र प्रस्तुत किया गया है । ऐसे नाटकों में लक्ष्मीनारायण लाल का "नरसिंह कथा", सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का "लडाई", भीष्मसाहनी कृत "कबिरा खड़ा बाज़ार में", सुशील कुमारसिंह रचित "नागपाश" सफदर हाश्मी का नाटक "हल्ला बोल" आदि विशेष उल्लेखनीय है ।

तानाशाही और जनता की दयनीय ज़िन्दगी की कथा प्रस्तुत करनेवाले "नरसिंह कथा" नाटक में हुतासन के माध्यम से आम जनता में जागृत होनेवाली प्रतिक्रिया - चेतना के बारे में चर्चा हुई है । हुतासन यहाँ आम आदमी का प्रतीक है और जिसे एक आधे पशु के रूप में चित्रित किया गया है । नाटक के अंत में जब हुतासन या आम जनता में हिरण्यकशिपु के शोषण के प्रति सही जानकारी मिल जाती है तो वह हिरण्यकशिपु पर टूट पड़ता है । और उसका कत्ल करता है । हुतासन में उत्पन्न होनेवाली चेतना आम आदमी की चेतना है । और हिरण्यकशिपु की हत्या तानाशाही पर जनचेतना की विजय का परिचायक है ।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने अपने "लडाई" नाटक के माध्यम से इस मुद्दे को उभारा है कि किसी एक व्यक्ति में अपने जीवन और समाज के प्रति पहचान जगाने से कोई फायदा नहीं है । नाटक में सत्यव्रत उदासीनता,

गरीबी, मानसिक गुलामी सामंती स्वभाव और सभी प्रकार की सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध लडाई चलाना चाहता है । लेकिन सब कहीं बुरी तरह पराजित हो जाता है । मतलब यह है कि एकमात्र व्यक्ति का जागरण अभिशाप है ।

जनता की प्रतिक्रियाशीलता को जगानेवाला सबसे प्रमुख तत्व है ज्ञान । जब तक एक समाज में ज्ञान का अभाव होता है तब तक शोषक-वर्ग उस समाज का नियंत्रण कर सकता है । भीष्म साहनी कृत "कबिरा खडा बाज़ार में" नाटक में कबीरदास के मार्गदर्शन द्वारा स्वयं जागृत होनेवाली जनता का चित्रण मिलता है । इस नाटक में कबीर के पदों को सभी दलित, पीडित, पराधीन, निरक्षर, शोषणग्रस्त लोग अपनी आत्मा से दोहरा कर कबीर के पीछे एकत्रित हो जाते हैं । वे कबीर की वाणी को अपनी आज़ादी का मार्ग मान लेते हैं । इस तरह अपनी ज़िन्दगी के प्रति असली जानकारी प्राप्त जनता समस्त समाज विरोधी ताकतों के खिलाफ एक आन्दोलन बन जाती है ।

दमन और शोषण के एक हद पर पहुँचते-पहुँचते जनता ज़रूर प्रतिक्रियाशील बन जायेगी । उस समय बहुत समय से शासितों की तरफ से प्राप्त अनुभव जनता को स्वयं जागृत होने में मदद दे देता है । अवसर पाते ही जनता शोषक ताकतों को तबाहने के लिए एकत्रित हो जायेगी । सुशीलकुमार सिंह के "नागपाश" में इस तरह तानाशाही के खिलाफ स्वयं जागृत होनेवाली जनता का चित्रण हुआ है । आपात्कालीन परिवेश में रचित इस नाटक में उन्नीस महीनों तक चलते रहे खूनी खेल का वास्तविक चित्रण है । सत्ता को अपने हाथों में बनाये रखने के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री ने जितने भी खेल खेले उन सब का फल अगले चुनाव में प्रतिफलित हुआ । इस नाटक में रानी माँ की दमन नीतियों के विरोध में जनता एकत्रित होती है । नाटक के

अंत में रानो माँ "गरीबी हटाओ", "बीस सूत्री कार्यक्रम", "पाँचसूत्रीय कार्यक्रम", आपातकाल के गुणफल आदि नारे लगाती हुई चुनाव में निकलती है । लेकिन इन नारों के खोखलेपन से परिचित जनता साथ मिलकर रानो माँ को गद्दी से गिराती है । नाटक के अंत में सब लोग एक साथ कहते हैं, "न होगा अवतार कोई / न करनी होगी प्रतीक्षा / जब खोलेगी आँखें अपनी/ शक्ति अपने पहचानेगी / और कमरकस / डर जायेगी / अन्यायी सत्ता के आगे/ जनता खुद अवतार बनेगी / अपना शासन आप करेगी ।" उपर्युक्त संवाद में स्वयं जागृत एवं सभी प्रकार की जनविरोधी ताकतों के विरुद्ध दृढ संकल्प लेनेवाली आम जनता का स्वर मुखरित है ।

सफदर हाश्मी का "हल्ला बोल" इस दिशा में बहुत प्रभावशाली रचना है । यहाँ श्रमिक वर्ग की अभावग्रस्त ज़िन्दगी, श्रमिक संघ की स्थापना की प्रधानता आदि पर प्रकाश डाला गया है । असंगठित श्रमिक वर्ग हमेशा शोषण का शिकार बन जाता है । नाटक में दो श्रमिक, संघ में शामिल होने को तैयार नहीं है । इसी वजह से उन्हें फाक्टरी मालिक की तरफ से कई प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ती है । श्रमिक संघ में शामिल न होने के कारण उन दोनों के लिए आवाज़ उठाने के लिए उधर कोई नहीं है । और अंत में वे श्रमिक संघ की प्रधानता के बारे में खुद पहचानते हैं । इस तरह जब तक आम जनता में जागरण नहीं होता है, वे शोषण से मुक्त नहीं हो जाती । इस नाटक में लाठी चार्ज करने के लिए आगे बढनेवाली पुलिस के सामने आवाज़ उठानेवाले जोगी के शब्दों में आम जनता का आत्मरोष विद्यमान है । जोगी यों कहता है - "एक नहीं हज़ार लाठी - डंडे बरसाओ, आज मैं चुप नहीं रहूँगा । इस देश का मज़दूर आज चुप नहीं रहेगा । मज़दूर जान गंवाने से नहीं डरता, वो लाठी से क्या डरेगा ?"[1]

---

1. सफदर - जननाट्यमंच - पृ. 109

जाहिर है कि एक जनवादी समाज निर्माण के लिए आम जनता को अपने राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्थिति के बारे में समझदार होनी चाहिए । मौजूदा व्यवस्था जनता को इस तरह की जानकारी से विलग करना चाहती है और हमेशा जनता को प्रश्नहीन एवं प्रतिक्रियाविहीन रूप में देखना भी चाहती है । उपर्युक्त उदाहरणों से यह मालूम हो जायेगा कि जनवादी साहित्य, खासकर जनवादी नाटक प्रतिक्रिया विहीन एवं प्रश्नहीन जनता में अपनी ताकत एवं अधिकारों के प्रति असली जानकारी पैदा करने की कोशिश करता है । प्रतिक्रियाविहीन जनता में प्रतिक्रिया की चेतना पैदा करने के लिए नाटकों में विशेष ताकत होती है । जर्मन तथा रूसी नुक्कड नाटकों का इतिहास इसके लिए सबूत है । भारत में भारतेन्दु के नाटक, भारतीय जननाट्य संघ के नाटक, जननाट्य मंच के नाटक आदि जनजागरण को ज़्यादा महत्व देते थे ।

जनता की सुप्त चेतना को जगाने में कुछ निर्भीक व्यक्तियों का प्रयास

हरेक जनवादी आन्दोलन की विजय के पीछे कुछ निर्भीक व्यक्तियों की भूमिका ज़रूर होती है । इस तरह के व्यक्तियों में वी.आई.लेनिन, महात्मागांधी, जयप्रकाश नारायण, विनोबा भावे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भी जनता की सुप्त चेतना को जागृत करने के लिए विभिन्न काल में कई साहित्यकारों ने खूब प्रयास किया है । मध्यकाल में कबीरदास, आधुनिक काल में आते आते भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द और प्रगतिवादी एवं जनवादी साहित्य के विभिन्न रचनाकारों ने जनता में जागरण लाने के लिए खूब प्रयास किया है । इस तरह राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक क्षेत्रों में प्रत्येक कालखण्ड के दौरान कई व्यक्तित्व आम जनता के पक्षधर बनकर आए हैं । वास्तव में उनकी निर्भीकता एवं जनमानस को एकसूत्र में बांधने की क्षमता ही जनवादी

आन्दोलनों की विजय रहस्य है । इन व्यक्तित्वों ने राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक क्षेत्र में आम जनता के प्रतिनिधि बनकर आम जनता की खामोश इच्छाओं तथा आक्रोशों को शब्दबद्ध एवं क्रियान्वित कर दिया है । स्वातंत्र्योत्तर जनवादी नाटकों में ऐसे पात्रों के माध्यम से आम आदमी के स्वर मुखरित करने का सफल प्रयास किया गया है । "कोणार्क" नाटक का धर्मपद, "रक्त कमल" का कमल, "एक सत्य हरिश्चन्द्र" का लौका, "नरसिंह कथा" का प्रह्लाद, "कबिरा खड़ा बाज़ार में" का कबीर दास, "हल्लाबोल"का जोगी, "सबसे उदास कविता" की अपूर्वा, "गरीबी हटाओ", अंधों का हाथी", "मशीन" जैसे नाटक के सूत्रधार आदि इस कोटि में आते हैं ।

जगदीशचन्द्र माथुर ने "कोणार्क" में धर्मपद के माध्यम से श्रमिक वर्ग को परंपरागत मानसिकता में एक बड़ा-सा मोड़ दिया । शिल्पी धर्मपद के पिता विशु और अपने समस्त सहकर्मी स्वयं अपने को शासकों के गुलाम समझ लेते हैं और यह भी मानते हैं कि कलाकार का एकमात्र कर्तव्य कला-सृष्टि है । लेकिन धर्मपद के आगमन से पुरानी पीढ़ी की इस मानसिकता एवं नई पीढ़ी की प्रतिक्रियाशीलता का संघर्ष पैदा हो जाता है । धर्मपद का हर एक शब्द शिल्पियों के लिए - श्रमिक वर्ग के लिए - नई रोशनी प्रदान करता है । धर्मपद उद्‌बोधन करता है कि कलाकार का एकमात्र मकसद कला-साधना नहीं है, देश की व्यवस्था पर कलाकार अपना प्रभाव डाल सकता है । देश का शासन और भविष्य इस देश के श्रमिक वर्गों के कंधों पर रखता है । मतलब है कि गद्दी पर किसको बिठाना है किसको न बिठाना है, इसके बारे में अवाम फैसला कर सकता है । नाटक में धर्मपद एक क्रांतिकारी नेता का रूप धारण कर लेता है । दिशाभ्रमित एवं असहाय श्रमिकों के लिए वह रास्ता बन जाता है, सही पथ-प्रदर्शक बन जाता है । और उसके मार्गदर्शन के ज़रिए श्रमिक वर्ग एकत्रित होकर दोषी ताकतों के विरुद्ध लड़ाई चलाता है । इस तरह एक सही नेता के चरित्र को जगदीशचन्द्र माथुर ने धर्मपद के माध्यम से दिखाया है ।

जन-शक्ति का विभाजित या उदासीन रहना राजनीतिक बर्बरता को आमंत्रित करता है । भ्रष्ट व्यवस्था की तबाही के लिए क्रांतिकारी संघर्ष की जरूरत है । मनुष्य का इतिहास इसका गवाह है कि चेतना-युक्त जन-शक्ति ही सत्ता की निरंकुशता को ध्वस्त कर सकती है । इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए जनता को सन्नद्ध कराने एवं जनाधिकारों के प्रति उसे अवगत कराने में कई प्रतिबद्ध व्यक्ति प्रत्येक समाज में उभर आते हैं । डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में हम ऐसे पात्रों को देख सकते हैं । "सब रंग मोहभंग" में डॉ. लाल, नरभोजी राजा की लोक कथा को वर्तमान राजनीति के आलोक में लाकर, ऐसी दोषी व्यवस्था को बदलने के लिए संपूर्ण क्रांति का आह्वान करते हैं -"तोड दो अपने घेर को । ऊक देखो, कौन दौडा रहा है ? बीच में कौन है ? इस खेल का अंत कहाँ है । अपने आप से प्रश्न करो । जाना कहाँ था ? ऐसा क्यों है ? यह हो क्या रहा है ? हमसे कराया क्यों जा रहा है ?"[1] इस नाटक की रचना आपात काल के समय पर था । जयप्रकाश नारायण का संपूर्ण क्रांति का नारा इस कृति में गूँज रहा है । डॉ. लाल के "नरसिंह कथा" में प्रह्लाद का चरित्र भी तानाशाही के विरोध में जनता को एकत्रित करानेवाले नेता के रूप में चित्रित किया गया है । इस नाटक में तानाशाह हिरण्य कशिपु का कत्ल हुतासन से किया जाता है जो निम्न वर्ग का प्रतीक है । हुतासन को यहाँ आधा जानवर-सा दिखाया गया है और नाटक के अंत में आते-आते हुतासन पशुता से ऊपर उठकर चेतना युक्त बन जाता है और क्रूर हिरण्यकशिपु का कत्ल कर देता है । लेकिन हुतासन को पशुता से ऊपर उठाकर प्रतिक्रियाशील बनानेवाली ताकत प्रह्लाद है । प्रह्लाद के आह्वान और मार्गदर्शन से ही हुतासन - आम जनता - प्रतिक्रियाशील बन जाता है ।

---

1. लक्ष्मीनारायण लाल - सब रंग मोहभंग - पृ. 91

भीष्म साहनी ने अपने नाटक "कबिरा खड़ा बाज़ार में" में कबीरदास के क्रांतिकारी व्यक्तित्व को प्रस्तुत किया है । वर्णाश्रम व्यवस्था, धर्मान्धता, शोषण आदि द्वारा पतनोन्मुख एवं मूल्यविहीन मध्यकालीन समाज ही नाटक की पृष्ठभूमि है । भीष्म साहनी का कबीर उस समाज में व्याप्त अशिक्षा के अंधकार में एक उज्ज्वल मशाल लेकर प्रवेश करता है और उनके पीछे दलित, पीडित एवं आशाविहीन लोग एकत्रित हो जाते हैं । नाटक के प्रथम अंक में कबीरदास स्वयं कहता है, "मुझे इस अंधेरे में रोशनी की लौ चाहिए ।"[1] दर असल कबीरदास एक वर्ग-विभक्त एवं शोषणग्रस्त समाज को वर्गहीन तथा स्वतंत्र बनाने की कोशिश कर रहा था । केवल भौतिक बातों में ही नहीं, आध्यात्मिकता की नज़रिए में भी वे परिवर्तन लाना चाहते थे । कबीर को अपने इन प्रयासों के जवाब में शासकों पूँजीपतियों तथा धर्म के ठेकेदारों की तरफ से कई प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ी । लेकिन कोई भी शासक या धर्माध्यक्ष निर्भीक कबीर की इच्छा शक्ति के सामने बाधा नहीं डाल सकते हैं ।

भीष्म साहनी के कबीर के समान आम आदमी को अपनी आज़ादी की ओर पथप्रदर्शन करनेवाली एक पात्र है स्वदेश दीपक के "सबसे उदास कविता" नाटक की अपूर्वा । इस नाटक में सशस्त्र क्रांति के कारणों और लक्ष्यों के बारे में चर्चा की जाती है । नाटक में उत्तर भारत के एक गरीब इलाके को कुछ घटनाएँ हैं । उस गाँव में ज़मीन्दारों का राज है, निम्न वर्ग के लोग गुलाम की ज़िन्दगी बिताते हैं । उनकी फरियाद सुनने के लिए वहाँ पुलिस या अदालत नहीं है । क्योंकि पुलिस, अदालत और संपूर्ण सरकारी उपकरण इन ज़मीन्दारों की इच्छा-इशारों पर व्यवहार करते हैं । ज़मीन्दारो शासन को क्रूरता का वर्णन करनेवाले कई दृश्य इस नाटक में मिलते हैं । जब खेतिहर मज़दूर अपनी मज़दूरी के रूप में आधा किलो चावल

---

1. भीष्म साहनी - कबिरा खड़ा बाज़ार में - पृ. 28

ज़्यादा माँगते हैं तो मज़दूरों की ज़ुबान बन्द कर देने के लिए ज़मीन्दार अपनी वीर सेना और पुलिस को भेज कर साठ गरीबों का कत्ल करते हैं जिनमें औरतें और बच्चे थे । दूसरे एक प्रसंग में निम्न वर्ग की 20 स्त्रियों को विवस्त्र बनाकर पाँच किलोमीटर का परेड करवानेवाले डी.एस.पी. का दृश्य है । इस तरह की निर्मम व्यवस्था से आज़ादी पाने का एकमात्र मार्ग हथियार का मार्ग है । अपूर्वा एक जैर्णलिस्ट है और वह सशस्त्र क्रांति में उस गाँव की आम जनता का साथ देती है । अपूर्वा की अगुआई में मज़दूर लोग एकत्रित हो जाते हैं और वे ज़मीन्दार के बेटे का कत्ल करते हैं । उसके बाद अपूर्वा की इशारे पर चार युवक डी.एस.पी.अहूजा को अपने जोप के साथ बांध कर जिन्दा जलाते हैं । पूरे नाटक में अपूर्वा का क्रांतिकारी व्यक्तित्व विद्यमान है ।

सर्वहारे को वर्ग-चेतन बनाने में नुक्कड नाटकों की महत्वपूर्ण भूमिका है । नुक्कड नाटक में भी जन चेतना को जगानेवाला एक पात्र ज़रूर होता है । शायद वह नायक के रूप में आता है या सूत्रधार के रूप में आता है । सवा सेर गहूँ, औरत, जनता पागल हो गई है, गाँव से शहर तक, मशील, हल्ला बोल जैसे अनेक नुक्कड नाटकों में कोई न कोई प्रकार नीति की लडाई में जनता का अगुआई करनेवाले निर्भीक पात्रों का सान्निध्य होता है । राजेश कुमार रचित "सवा सेर गेहूँ" नाटक में किसुन को अंत में एक क्रांतिकारी, निर्भीक व्यक्ति के रूप में दिखाया गया है । नुक्कड नाटक की विशेष संभावनाओं को स्वीकार करते हुए किसुन को पूरे दर्शकों की अगुवाई करनेवाले नेता के रूप में तब्दील कर सकता है । नाटककार का लक्ष्य भी ऐसा है, क्योंकि नाटक की समाप्ति इस प्रकार है कि जब किसुन दर्शकों से प्रश्न करता है, "बोलिए बाबू बोलिए, ये कानून है या जुल्म, हम इसे कब तक सहेंगे, कब तक ?" इस अवसर पर दर्शक गण उत्तेजना में प्रत्युत्तर

देते हैं, "यह अन्याय है । यह जुल्म है । अब इसे नहीं सहा जा सकता । न गाँव में न शहर में ।"[1] इस तरह नाटक के अंत में दर्शकों की भागीदारी हो जाएगी जो नुक्कड नाटकों की एक स्वाभाविक विशेषता है ।

अपने नाटक "गाँव से शहर तक" में सफदर हाशमी ने भारतीय गाँवों तथा शहरों में चल रहे अमानवीय शोषण का चित्रण किया है । गाँवों में हो या शहरों में हो, शोषण का यंत्र समान रूप से चलता रहता है । नाटक में सूत्रधार आम जनता का पक्षधर है जो नाटक के अंत में इस दोषी-अन्याय व्यवस्था के प्रति हमेशा सतर्क रहने के लिए श्रमिकों को आह्वान देता है । श्रमिकों में छिपी हुई शक्ति पर उसे पूरा भरोसा है । इसलिए वह उन्हें उस शक्ति को जागृत कर उस का सदुपयोग करने का सुझाव देता है । वह कहता है -"मेरे देश के मज़दूरों, मेरी धरती के लालों, मेरे देश के आवारा बच्चों - आओ एकजुट हो जाओ और पहचान कर लो कि केवल एक ही रास्ता है - मेहनतकश एकता का रास्ता ।"[2] सफदर हाशमी के "मशीन" नाटक का सूत्रधार भी जनता का पक्षधर बन कर शोषक तत्वों के खिलाफ विद्रोह करने के लिए जनता को प्रेरणा देता है । वह दिन-रात फैक्टरी मालिकों के लिए यंत्रवत् काम करनेवाले श्रमिकों में क्रांति का आग लगाता है । फिर विद्रोह करनेवाले मज़दूरों पर पुलिस द्वारा गोली चलाये जाते वक्त भी वह निर्भीक होकर आगे खडे होकर शासक वर्ग को चेतावनी भी देता है कि गोलियों से अब श्रमिक वर्ग का दमन असंभव है ।

श्रमिक संघ के महत्व पर ज़ोर देनेवाले "हल्ला बोल" नाटक में भी सफदर ने सूत्रधार को ज़्यादा महत्व प्रदान कर दिया । नाटक में

---

1. राजेश कुमार - सवा सेर गेहूँ - नुक्कड नाटक-संग्रह - पृ. 56
2. सफदर हाशमी - गाँव से शहर तक - नुक्कड नाटक (संग्रह) - सं. चन्द्रेश - पृ. 138

सूत्रधार असंगठित मज़दूरों को संगठित होने की प्रेरणा करता है । सूत्रधार सावधान करता हुआ कहता है -"जिन फैक्टरियों में यूनियन नहीं है, वहाँ के पक्के मज़दूरों का भी यही हाल है । मालिक 562 पर अंगूठा लगवाकर 300-400 पकडा देता है ।"[1]

ज़ाहिर है कि समस्त जनवादी नाटकों में आम जनता के पक्ष में खडे होकर समाज में व्याप्त शोषण के तत्वों के खिलाफ लडाई चलानेवाले पात्र अवश्य होते हैं । वे जनता की सुप्त चेतना को जगाते हैं और आम आदमी के दुश्मनों से डरते भी नहीं है । इतिहास में हम ऐसे अनेक व्यक्तियों को देख सकते हैं ।

जड संस्कारों को तोडने की कोशिश

"कबिरा खडा बाज़ार में" नाटक में भीष्म साहनी ने समाज में मौजूद सभी प्रकार की सडी-गली मानसिकताओं को जड से उखाडने की कोशिश की है । नाटक में कबीर के समाज-सुधारक व्यक्तित्व को ज़्यादा महत्व प्राप्त हुआ है । कबीर हिन्दु और इस्लाम धर्म में मौजूद अंधविश्वासों तथा विभिन्न धार्मिक मिथ्याडंबरों का तोड-फोड करता है । वे अपने इन व्यवहारों द्वारा हिन्दु और इस्लाम दोनों धर्मावलंबियों को अपना दुश्मन बनाते हैं । वे बज़ार, नुक्कड, चौराहों में खडे होकर समाज में व्याप्त सभी प्रकार की अनीतियों की कटु आलोचना करते हैं । इस के अतिरिक्त मिश्र-भोजन का प्रबन्ध भी करते हैं ।

नाटक में कबीर और कायस्थ के बीच के संवाद में कबीर अपनी तीखी एवं चतुरतापूर्ण भाषा द्वारा धार्मिक मिथ्याडंबरों का खंडन यों

---

1. सफदर हाशमी - हल्ला बोल - सफदर (जननाट्य मंच) - पृ.116

करते हैं -

"कायस्थ : जो भगवान से प्रेम करेगा, वह इनसान से भी प्रेम करेगा ।

कबीर : ब्राह्मण, ब्राह्मण को ही इनसान समझेगा और तुर्क, तुर्क को ही इनसान समझेगा और दोनों मुझे नीच समझेंगे ।

× × × ×

कबीर : मैं उन्हें गले से लगाना चाहता हूँ, क्या वे मुझे गले से लगाएँगे ?

कायस्थ : इस की क्या ज़रूरत है ? ज़रूरत इस बात की है कि भगवान उन्हें गले लगाएँ और भगवान तुम्हें भी गले लगाएँ ।

कबीर : उन का भगवान मुझे नहीं गले लगाएगा साहिब, वह भी उन्हीं को गले लगाएगा ।"[1]

इस तरह मिश्र-भोजन, छुआछूत, जाति-पांति जैसे समाज की कई ज्वलंत समस्याओं की चर्चा इस नाटक में हुई है । कबीरदास के अनुसार, मंदिर और मसजिद ही आदमी का बंटवारा करते हैं । इसलिए मंदिर और मसजिद के चश्मों के भीतर से देखने के बजाय, आदमी को आदमी के रूप में देखने के लिए कबीर आह्वान करते हैं । वे कायस्थ से कहते हैं -"सुनिए साहिब, मैं हूँ तो नीच जात का अनपढ जुलाहा, पर एक बात तो मैं भी समझता हूँ । जब तक किसी की नज़र में एक ब्राह्मण है और दूसरा तुर्क, तब तक वह इनसान नहीं समझेगा । मैं इनसान को इनसान के नाते गले लगाने के लिए मंदिर के सारे पूजा-पाठ और विधि-अनुष्ठान छोडता हूँ और मसजिद के रोज़ा-नमाज भी छोडता हूँ । मैं इनसान को इनसान के रूप में देखना चाहता हूँ ।"[2]

अपने नाटक "सवा सेर गेहूँ" में राजेश कुमार ने जड संस्कारों को तोड देने की कोशिश की है । प्राचीन काल से भारत में साधुओं को समाज

---

1. भीष्म साहनी - कबिरा खडा बाज़ार में - पृ. 8।
2. वही - पृ. 8।

के सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता है । लेकिन आधुनिक काल में आते आते, खास कर मार्क्सवादी चिंतन एवं प्रगतिवादी साहित्य के आगमन से इस में कुछ बदलाव आने लगा । फिर भी एक औसत भारतीय के मन में उस पुरानी संस्कृति की जड़ें अब भी मौजूद है । इसलिए उस मानसिकता का लाभ उठानेवाले धार्मिक अपराधियों की शुमार भी समाज में बढ गई है । "सवा सेर गेहूँ" नाटक का शंकर पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधि है जिस के मन में साधु को ईश्वर का समान स्थान है । लेकिन शंकर का बेटा मंगल, साधु का आदर-सत्कार करना पसंद नहीं करता है । वह कहता है -"दिन भर कमाएँ - खटें हम, और जटा बढाकर, राख लगाकर, टीका लगाकर मुफ्त का भोजन करने धमक जाते हैं वे ।"[1] इस तरह पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के बीच अपने अपने विश्वास और चिंतन का संघर्ष होता है । घर पर साधु के आगमन को अपने सबसे बडा भाग्य समझनेवाला शंकर अपने बेटे को साधु के बारे में कुवचन बोलने से रोकता है । मंगल उस नई पीढ़ी का प्रतीक है जो जीवन के यथार्थ से ज़्यादा परिचित हो । इसलिए मंगल साधु से मेहनत करके खाने को कहता है ।

इस तरह जड संस्कारों को तोड देने का आह्वान कतिपय नाटकों में मिलता है । आम जनता जब तक ऐसे संस्कारों से मुक्त नहीं हो जाएगी, तब तक उस की आड में शोषक वर्ग प्रबल बन जाता ही रहेगा । आम लोगों के बीच ऐसी मानसिकता को बनाए रखना शोषक वर्गों को ज़रूरत है । जनवादी नाटककारों ने अपनी रचनाओं द्वारा जनता के बीच ऐसी प्रगति-विरोधी संस्कृति के विरुद्ध चेतना पैदा करने का अपना सामाजिक दायित्व निभाया है ।

---

1. राजेश कुमार - सवा सेर गेहूँ - नुक्कड नाटक (संग्रह) - सं. चन्द्रेश - पृ. 2

शोषणकारी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा

आज़ादी को आधी सदी के बाद भी भारत की आम जनता आज़ादी के पहले के शोषक तरीकों से मुक्त नहीं हुई है । क्योंकि आज़ादी प्राप्त होने से भी शोषण की व्यवस्था में कोई बदलाव नहीं हुआ । अर्ध-सामंती, अर्ध-पूँजीवादी व्यवस्था यथापूर्व स्थिति से समाज में मौजूद रही । आम जनता की स्थिति अत्यंत बदतर हो गई । धर्म-राजनीति-पूँजीवादी गठबन्धन समाज की वर्ग-विभक्त स्थिति को अपरिवर्तित रखने का प्रयास करता रहा । इसी वजह से देश में गरीब-पीड़ित-अभावग्रस्त -अधिकार से वंचित लोगों की शुमार बढ़ती रही । जब कभी राजनीतिक, सामाजिक या साहित्यिक क्षेत्र में इस दोषी व्यवस्था के खिलाफ एतराज की आवाज़ उभर आई तो शासक-पूँजीवादी ताकतों ने ऐसे प्रगतिशील प्रयासों को कुचलने की कोशिश की । जनवादी नाटकों में हम उपर्युक्त एतराज की आवाज़ सुन सकते हैं । स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों के बारे में अभी तक की गई चर्चा से यह मालूम हो जाता है कि हिन्दी के जनवादी नाटककारों ने अपनी रचनाओं द्वारा शोषणकारी व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह करने की प्रेरणा दी है ।

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के "नरसिंह कथा" में प्रह्लाद तानाशाही के विरोध में लड़ाई चलाता है । नाटक के अंत में लोकशाही पर विश्वास रखनेवाले प्रह्लाद को हम देख सकते हैं । लेकिन प्रह्लाद ऐसी लोकशाही के निर्माण के लिए जन-विद्रोह की अनिवार्यता पर ज़ोर देता है । नाटक के अंत में तानाशाह हिरण्यकशिपु के फिर से आने की संभावना पर दर्शकों को चेतावनी देते हुए प्रह्लाद यों कहता है, "इस सिंहासन के विनाश के भीतर से एक नया लोकतंत्र उपजे, इस के लिए अनिवार्य है, मनुष्य और पशु, दोनों

शक्तियाँ एक हो.... नरसिंह ।"[1] ज़ाहिर है कि यहाँ "मनुष्य और पशु" के प्रयोग से क्रांति की ओर इशारा की जाती है ।

डॉ.लाल के "एक सत्य हरिश्चन्द्र" में राजा हरिश्चन्द्र की कथा को एक नया मोड दिया गया है । पुराण में हम ने इन्द्र और विश्वामित्र के कुचक्र चालों में फँसकर सत्य की परीक्षा देनेवाले प्रश्नहीन हरिश्चन्द्र को देखा है । लेकिन डॉ.लाल यहाँ "नहीं चाहिए मुझे झूठा स्वर्ग" कहनेवाले क्रांतिकारी हरिश्चन्द्र को प्रस्तुत करते हैं । इस के माध्यम से वे व्यक्त करना चाहते हैं कि समाज में ऐसी कई कहानियाँ मौजूद हैं कि जो लोगों को स्वर्ग की लालसा दिखा कर अपने से बडों का विरोध न करने को प्रेरणा देती हैं । इन कथाओं का प्रचार शोषक-वर्गों द्वारा किया जाता है । उन का लक्ष्य यह है कि आम जनता कभी भी शोषण के खिलाफ आवाज़ न उठाए । नाटक में लौका नामक पात्र के माध्यम से निम्न-वर्ग को सब प्रकार के धार्मिक अंधविश्वासों से मुक्त होने की प्रेरणा दी जाती है ।

श्री शरद जोशी कृत "अंधों का हाथी" में "हाथी" देश की समस्या है । पाँच अंधे को "हाथी" की समस्या का हल करने के लिए आनेवाले नेताओं, अफसरों तथा शासकों के रूप में प्रस्तुत किया गया है । वे समझते हैं कि जनता मूर्ख है । यह तो वास्तव में सही भी है, क्योंकि जनता की मूर्खता या प्रश्नहीनता का ही ये अंधे शासक मुनाफा उठाते हैं । जोशीजी का तात्पर्य यह है कि इन अंधों से देश की मुक्ति तभी होगी जब जनता अपनी अंधता को दूर करते हुए इन राजनीतिक अंधों के कथन की वास्तविकता को पहचान कर सकें ।

---

1. डॉ.लक्ष्मीनारायण लाल - नरसिंह कथा - पृ.66

इस नाटक में जनता ही नहीं, देश का शासक वर्ग, राजनीतिज्ञ मंत्री, प्रशासनिक अधिकारी, बुद्धिजीवि आदि अंधे होकर हाथी के विभिन्न अंगों को टटोलकर अर्ध-सत्य को ही ग्रहण करते हैं । देश की तमाम समस्याएँ जैसी को तैसी बनी रहती है । देश को अगुआई करनेवालों की अंधता देश का बड़ा खतरा है । इसलिए यह नाटक इस खतरे से हमेशा सावधान रहने तथा इस अंधी व्यवस्था को तोड़ देने के लिए एकजुट होने की प्रेरणा देता है ।

ज्ञानदेव अग्निहोत्री के नाटक "शुतुरमुर्ग" में एक महत्वाकांक्षी राजा के कुशासन का वर्णन है । देश का सारा धन एक सोने की शुतुरमुर्ग की प्रतिमा के निर्माण में प्रयुक्त किया जाता है । इस से क्रुद्ध भीड़ राम के नेतृत्व में संघर्ष पर उतारू हो जाती है । उनकी माँग है कि सोने के शुतुरमुर्ग की प्रतिमा बनाने का काम बन्द किया जाए और जनसाधारण की बुनियादी ज़रूरतों की पूर्ति को प्राथमिकता दी जाए । नाटक के अंत में अत्याचारी राजा पर जन-शक्ति की विजय की घोषणा द्वारा एक संशुद्ध जनवादी समाज निर्माण के लिए जन-आन्दोलनों के सक्रिय होने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया गया है ।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के नाटक अवाम की आम समस्याओं से संबंधित है । कहीं वे बुर्ज़ुआ राजनीति और समाज व्यवस्था को दोषी ठहरते हैं तो कहीं-कहीं जनता की अकर्मण्यता को ही अपनी बदहालियों की वजह बताते हैं । और हम कह सकते हैं कि उन के नाटक जन-जागरण को ही मुक्ति का एकमात्र मार्ग समझते हैं । "लड़ाई" नाटक में उन्होंने उदासीनता से, गरीबी से, मानसिक गुलामी से, औपनिवेशिक संस्कृति से, सामन्ती स्वभाव से, जातिवाद से, भाषावाद से और सभी प्रकार की सामाजिक कुरीतियों से लड़ाई चलाने के लिए उत्सुक एक व्यक्ति-मन का चित्रण किया है । लेकिन वह व्यक्ति सब प्रकार के अत्याचारों के खिलाफ अकेले विद्रोह करके सब कहीं पराजित हो जाता है । इस के ज़रिए सक्सेना जी यही स्पष्ट

करते हैं कि अकेले होकर विद्रोह करने से या व्यक्तिगत संघर्ष चलाने से कोई फायदा नहीं है । विद्रोह को फतह पर लाने के लिए संगठित जन-संघर्ष की ज़रूरत है ।

शोषणकारी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा, अन्य नाटकों की अपेक्षा नुक्कड नाटकों में कुछ ज़्यादा पाई जाती है । क्योंकि नुक्कड नाटक, समाज के हाशिए में पडे हुए लोगों के सबसे निकट खडे होते हैं । और नुक्कड नाटकों का मकसद भी आम लोगों के मन में जागरण पैदा करना और शोषणकारी ताकतों के खिलाफ विद्रोह करने के लिए उन्हें प्रेरणा देना है । "हल्ला बोल", "मशीन", "गाँव से शहर तक", "औरत", "राजा का बाजा", "सवा सेर गेहूँ" जैसे नाटकों में नज़र दौडाते वक्त हम को यह मालूम हो जाएगा ।

"सवा सेर गेहूँ" नाटक में मंगल और किसुन को विद्रोही के रूप में दिखा कर सूदखोरी और ज़मीन्दारी के विरुद्ध संघर्ष चलाने तथा मानसिक गुलामी से स्वयं मुक्त हो जाने की प्रेरणा दी जाती है । "हल्ला बोल" नाटक शोषण से मुक्ति पाने के लिए श्रमिकों को यूनियन के अधीन एकत्रित होने की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन देता है ।

"मशीन" नाटक में मिल मालिकों के लिए यंत्रवत् काम करने पर भी बुनियादी ज़रूरतों से वंचित श्रमिक ज़िन्दगी का कारुणिक दृश्य है । मिल मालिक श्रमिकों को अपने मिल का मशीन ही समझता है । जब श्रमिक लोग चेतनाहीन यंत्र के स्तर से ऊपर उठकर अपनी न्यायपूर्ण माँगों को दिखाना चाहते हैं तो उन्हें तबाहने के लिए सरकार के सारा सुरक्षा बल हमेशा तैयार हैं । नाटक में इन सब विपरीत परिस्थितियों के बावजूद भी मज़दूर वर्ग इस अन्याय के विरुद्ध लडता है । नाटक श्रमिकों को अपनी न्यायपूर्ण मांगों की

पूर्ति के लिए संघर्षरत रहने का आह्वान करता है । "राजा का बाजा" और "गाँव से शहर तक" नाटकों में भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज़ उठाई गई है तो "औरत" नाटक में अपने को चारों ओर से जकड़नेवाली सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक बेड़ियों को तोड कर स्वयं जागृत होनेवाली नारी का चित्रण हुआ है । स्पष्ट है कि जनवादी नाटकों का प्रमुख मकसद, समाज के निचले तबके के लोगों में चेतना जगाना और उन्हें संगठित तथा संघर्षरत बनाना है ।

इस अध्याय में हम ने प्रमुख रूप से दो बातों में ज़ोर दिया है । मौजूदा व्यवस्था में आम आदमी का शोषण तथा शोषण के प्रति आम आदमी की प्रतिक्रिया । बुनियादी ज़रूरतों से वंचित ज़िन्दगी, निरक्षरता, अज्ञता, अंधश्रद्धा, भाग्यवाद पर विश्वास, बेरोज़गारी आदि आम लोगों के शोषण के लिए कारण बन जाते हैं या ये सब शोषकों के लिए वरदान बन जाते हैं । इसलिए आम जनता को शोषण से मुक्त कराना है तो सबसे पहले उपर्युक्त बेड़ियों के बन्धन से उसे मुक्त कराना चाहिए । जनवादी नाटकों का मकसद भी दूसरा नहीं है । इसलिए प्रत्येक जनवादी नाट्यकार अवाम की आज़ादी के लिए, सबसे पहले उन में चेतना का संचार करने की कोशिश करते हैं । प्रश्नहीन एवं प्रतिक्रिया विहीन जनता में प्रश्न करने और प्रतिक्रिया करने की क्षमता पैदा कर देते हैं । सर्वोपरि आम जनता में सही राजनीतिक समझदारी पैदा करके एक संशुद्ध जनवादी समाज निर्माण के लिए समस्त जन-मन को पकाते हैं ।

अध्याय - पाँच

जनवादी चेतना और रंगकर्म

जनवादी नाटकों का मूल संबंध समाज के सामान्य लोगों से है । इसलिए जनवादी नाटक और रंग कर्म पर चर्चा करते समय उसकी भाषापरक शैलीपरक एवं कथ्यगत विशेषताओं पर भी नज़र दौडाना अनिवार्य है । आम जनता के बीच, आम जनता के लिए खेले जाते वक्त कथ्य, शैली एवं भाषा की दृष्टि से आम लोगों की पकड के बाहर नाटक को न जाने देने में जनवादी नाट्यकार विशेष ध्यान देता है । जनवादी नाटक ने शास्त्रीय रंग परिकल्पनाओं को तोडकर मुक्ताकाशी रंग-पद्धति को अपनाया । क्योंकि मुक्ताकाशी रंगमंच की जडें भारतीय लोकनाट्य परंपराओं पर टिकी रहने के कारण जन-मन को उससे एक मज़बूत एवं पारंपरिक लगाव होता है । इसलिए जनवादी नाट्य कलाकारों ने ज़्यादातर मुक्ताकाशी रंगमंच को अपने नाटकों की प्रस्तुति के लिए सफल माध्यम समझा । जनवादी नाटक कथ्य एवं भाषा की शैली में भी शास्त्रीय नाट्य परंपरा का अतिक्रमण करता है । जनवादी नाटकों में चर्चित विषय आम आदमी की अपनी ज़िन्दगी की सामान्य समस्यायें हैं । ज़्यादा दार्शनिक स्तर की ओर न बढ़ते हुए वर्तमान सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक मुद्दों को बहुत सरल रूप से प्रस्तुत किया जाता है जिनके साथ आम आदमी का निकट संबंध है । जनवादी नाटकों की भाषा में आम आदमी की स्वाभाविक ज़िन्दगी की अभिव्यक्ति होती है । जहाँ तक हो सके साहित्यिक भाषा को छोडकर बोलचाल की भाषा का इस्तेमाल किया जाता है । भीष्म साहनी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, सफदर हाशमी जैसे नाटककारों की रचनाओं में ऐसा भाषा-प्रयोग विद्यमान है । जनवादी नाट्यकार उपर्युक्त रंगमंच, भाषा-शैली और विषय को इसलिए चुन लेता है कि नाटक किसी भी प्रकार आम जनता से अलग न हो जाय ।

जनवादी नाटक की उपर्युक्त विशेषताएँ अभिजातो-पूँजीवादी सौंदर्य शास्त्र पर प्रहार करनेवाली थीं । भाषा, साहित्य और कला को

समाज के उच्च वर्ग अपने वर्ग हित की रक्षा के लिए इस्तेमाल करते थे । ऐसे पूँजीवादी साहित्य ने समाज के शोषित वर्गों की आवाज़ को साहित्य में आने न दिया । और ध्यानपूर्वक भाषा की सीमा रेखा द्वारा आम जनता को साहित्य और कला से अलग करने का कार्य भी किया । इसलिए साहित्य में आम आदमी की भाषा और ज़िन्दगी का आना एक क्रांतिकारी घटना बन गई । रंगमंच में यह क्रांति लाने में भारतीय जननाट्य संघ एवं जन नाट्य मंच का महत्वपूर्ण स्थान है ।

भारतीय जननाट्य संघ और जनवादी चेतना

भारत में नुक्कड नाटक के इतिहास का आरंभ भारतीय जन नाट्य संघ के विकास के साथ होता है । प्रगतिशीलता के दौर में भी इप्टा के उद्भव के लिए ज़मीन तैयार हो चुकी थी, क्योंकि 1936 में भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई थी । प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के फलस्वरूप एक नयी चेतना से लैस विचारधारा को तत्कालीन सृजन में स्थान मिला जिसका ध्येय मार्क्सवादी विचारधारा का समर्थन करना था । 1930 में कॉंग्रेस ने जिस असहयोग आन्दोलन का आरंभ किया उसे 1934 में छोड दिया । इस घटना ने कॉंग्रेस के कुछ युवा नेताओं को कॉंग्रेस के खिलाफ खडा कर दिया । गाँधी के अहिंसा सिद्धांत से असंतृप्त ये युवा लोग प्रगतिशील विचारधाराओं से आकृष्ट हुए । इस प्रकार भारतीय समाज में कम्यूनिस्ट विचारों तथा कम्यूनिस्ट पार्टी का स्थान बढ़ने लगा । कम्यूनिस्ट पार्टी ने समझा था कि अपने प्रवर्तनों तथा विचारों को जनता में भली भांति पहुँचाने के लिए एक सशक्त विचार-विनिमय माध्यम की ज़रूरत होती है । पश्चिमी देशों में 1920-1930 के आस-पास मज़दूर वर्गों की जिन नाट्य मंडलियों को ज़्यादा प्रचार मिल गया था इसके नमूने में भारतीय रंगमंच में कम्यूनिस्ट पार्टी के तत्वावधान में भारतीय जन नाट्य संघ (IPTA) 1940 में स्थापित हो गया । इस नाट्य संस्था की स्थापना के पीछे मन्मथ राय, के.ए.अब्बास,

शांतिवर्धन, शंभुमित्र, बलराज साहनी, उत्पल दत्त, ऋत्विक घटक, दीना गांधी, हबीब तनवीर, शीला भाटिया आदि कलाकार थे ।

ज़ाहिर है कि इप्टा ने जनवादी आन्दोलनों को मज़बूत बनाने तथा जनाक्रोश की नोक पर तेज़ बढ़ाने का महत्वपूर्ण कार्य किया है । इप्टा के आगमन के पहले नाटक आम आदमी से पूरी तरह अलग रहा था । रंगमंच की चहारदीवारियों के भीतर सीमित रह कर, समाज के एक छोटे-से हिस्से का मनोरंजन करते रहे नाटक को इप्टा खुले आसमान के नीचे, आम आदमी के निकट लाया । और उन्होंने अपने नाटकों में जनता की अपनी तत्कालीन ज्वलंत समस्याओं को पेश किया । तत्कालीन कथा साहित्य में जिस प्रकार प्रेमचन्द जी ने उपेक्षित जनता की वेदनाओं तथा आक्रोशों को वाणी दी, उसी प्रकार शोषित-पीड़ित वर्ग की ज़िन्दगी को इप्टा रंगमंच पर लाया । इप्टा ने रूपगत एवं भावगत दृष्टि से नाटक को "जनता का नाटक" बनाया। अर्थात्, एक सशक्त जनवादी माध्यम के रूप में नाटक की संभावनाओं को भली भाँति प्रयोग में लाने का प्रयास, सर्वप्रथम इप्टा ने ही भारतीय नाट्य जगत में किया है ।

नाटक को जनसाधारण के बीच लाने में इप्टा और उसके रंगकर्मियों की देन

नाटक को आम जनता के बीच लाने के लिए इप्टा ने जो कार्य किया वह भारतीय रंगमंच में एक नया कदम रहा । किसान और मज़दूर वर्ग की तत्कालीन बदहाली की तरफ इप्टा के रंगकर्मियों की सहानुभूति और प्रतिबद्धता का रवैया रहा । उन्होंने किसानों तथा मज़दूर वर्गों की दयनीय स्थिति को पेश करने के साथ राष्ट्रीय स्तर पर उनके उभार को भी चित्रित किया है । जीवन में होती हुई दुर्घटनाओं, अमीरों और गरीबों के बीच दिन-प्रतिदिन बढ़ती दरार ने नए विषय सुझाए । नाटक, थियटर से निकल कर बाहर आ गया ।

इप्टा के कलाकार गाँव-गाँव में चलकर लोकनाट्य परंपरा की शैली में, तत्कालीन जन-जीवन और राजनीति को आम लोगों के सामने पेश करते थे । गांधी द्वारा 1942 में चलाये गये "भारत छोडो" आन्दोलन को सरकार ने बर्बरता से दबा दिया और जनसाधारण में उदासी और तटस्थता फैल गई थी । सरकार की इस दमन नीति को जनता के सामने पर्दाफाश करने का कार्य इप्टा ने उस समय किया है । इस प्रकार समाज को अपने चारों ओर के राजनीतिक परिवेश के बारे में सजग रहने का आह्वान अपने नाटकों द्वारा इप्टा ने किया । दरअसल जनता में एक राजनीतिक समझदारी को उत्पन्न कराना ही उस का मकसद था । ज़ाहिर है कि जनता के मन में राजनीतिक समझदारी बढाना, जनवादी साहित्य और कला का अपना प्रमुख दायित्व है । इस दृष्टि से देखें तो हम कह सकते हैं कि इप्टा के कर्म-क्षेत्र में जनवादी तत्व अवश्य रहा है ।

बंगाल के अकाल के समय इप्टा ने जन--जागरण के लिए अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी । उस भीषण अकाल से सैकडों-हज़ारों लोग भूख से तडपकर मर गए । उस §मनुष्य निर्मित अकाल§ के लिए उत्तरदायी सरकारी नीति को जनता के सामने खुल कर दिखाने का कार्य इप्टा ने भली भांति किया । इप्टा की मंडलियाँ बंगाल के अकाल ग्रस्त गाँव-गाँवों में चलते-फिरते इन नाटकों का प्रदर्शन करती थीं । इन प्रदर्शनों ने ग्राम वासियों को अपने चारों तरफ घटित होनेवाली सारी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक घटनाओं की असलियत को पहचान करने और समझने के लिए एक नई नज़र विकसित होने दिया । वह नई नज़र निश्चय ही प्रगतिशील थी ।

इप्टा के नाटक जन-शक्ति तथा संघ-बोध पर ज़ोर देनेवाले थे । उन्होंने तत्कालीन कुव्यवस्था से मुक्त होने के लिए एकमात्र मार्ग के रूप में

जन-शक्ति और संघ-चेतना को माना था । यह दृष्टि मार्क्सवादी थी । जन-शक्ति पर ज़्यादा ज़ोर देनेवाली यह दृष्टि आज़ादी के बाद, "जन नाट्य मंच" (JNM) के समय में आकर अधिक विकसित एवं मज़बूत हो गई । इस प्रकार भारतीय जनमानस में मार्क्सवादी विचारधारा का संचार करके जन-शक्ति और संघ-बोध की सामाजिक उपयुक्तता पर ज़ोर देते हुए एक नई नज़रिए से समाज और राजनीति को देखने के लिए जनता को काबिल बनाने में इप्टा ने जो भूमिका निभाई है, वह बेजोड है ।

इप्टा एक देशव्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में

स्पष्ट है कि भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में रूपायित भारतीय जन नाट्य संघ का लक्ष्य भारत भर में पार्टी के आदर्शों का प्रचार करना एवं जनवादी क्रांति को प्रोत्साहित करना था । भारतीय जननाट्य संघ की शाखायें भारत के विभिन्न स्थानों में स्थापित हो गयीं । यह नाट्यान्दोलन भारतीय जनता के मन में एक नई सांस्कृतिक चेतना का संचार करने में सफल निकला । इप्टा से प्रेरणा पाकर केरल में रूपायित के.पी.ए.सी इसके लिए उदाहरण है । केरल में कम्यूनिस्ट पार्टी को बढ़ाने में के.पी.ए.सी का योगदान है । लेकिन इप्टा और के.पी.ए.सी के रंगमंच अलग-अलग है । क्योंकि के.पी. ए.सी ने अपने नाटकों के लिए यथार्थवादी रंगमंच को अपनाया जबकि इप्टा ने अयथार्थवादी रंगमंच को स्वीकार किया । जो भी हो, के.पी.ए.सी के नाटकों ने केरल की एक छोर से दूसरी छोर तक के अशिक्षित एवं असंगठित मज़दूरों को एक झंडे के नीचे एकत्रित कराने का जो कार्य किया है वह नाटक की शक्ति का उत्तम उदाहरण है । स्पष्ट है कि इस तरह इप्टा ने उस समय पूरे देश में नयी विचारधारा का प्रचार करने एवं आम जनता को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है ।

इप्टा का सांगठनिक बिखराव

देश को आज़ादी मिलने के बाद इप्टा के भीतर सांगठनिक बिखराव की शुरूआत होने लगी । आज़ादी के बाद तत्कालीन कांग्रेसी सरकार ने प्रगतिशील आन्दोलनों के ऊपर अपना दमनचक्र चलाया । सरकार ने इप्टा को पार्टी विशेष की जेबी संस्था कहकर जब अपनी दमन नीति का इस्तेमाल किया तब इप्टा के कई कलाकार रंगमंच को छोड कर चले । इसके अलावा आन्ध्र प्रदेश में हज़ारों कम्युनिस्टों और उन के नेतृत्व में पनप रहे आन्दोलन-कारी किसानों की हत्याएँ तथा पार्टी से जुड़े पत्र-पत्रिकाओं पर लगाए गए प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप भी कुछ लेखक और रंगकर्मी अलग हो गए ।

आज़ादी के पश्चात् इप्टा के प्रवर्तक अपने अपने कर्म क्षेत्र चुनते हुए आगे बढ़े । यह इप्टा के सांगठनिक बिखराव का प्रमुख कारण बन गया । कमलादेवी चटोपाध्याय इप्टा की एक अच्छी कार्यकर्ता थी । उन्होंने आज़ादी के बाद इप्टा से विदा लेकर "इंडियन नेशनल थियटर" नामक एक नई नाट्य मंडली की स्थापना की । यह नाट्य मंडली बाद में राष्ट्रीय स्तर पर विकसित होकर एक महान नाट्यमंडली बन गई । शंभु मित्र ने इप्टा से अलग होकर कोलकत्ता में अपनी नाट्य मंडली के ज़रिए टागोर के नाटकों के प्रदर्शन कार्य में जुड़े रहे । शंभु मित्र की नाट्य मंडली का नाम "बहुरूपी" था इसकी स्थापना 1949 में थी । उत्पल दत्त ने 1959 में "लिटिल थियेटर" की स्थापना की । इस नाट्यमंडली द्वारा उन्होंने अपने "अंकुर" और "कल्लोल" नाटकों के प्रदर्शन किए । उन्होंने गोर्की के नाटक "लोवर डप्त" का भी प्रदर्शन लिटिल थियेटर द्वारा किया था । के.ए.अब्बास, बलराज साहिनी और ऋत्विक घटक ने फिल्म की ओर अपना ध्यान मुडाया । इन कलाकारों में हबीब तनवीर ने ही नाटक के क्षेत्र में अपनी कई मौलिक देन दी है । उन्होंने सबसे पहले यथार्थवादी शैली में कई नाटकों का प्रदर्शन किया । बाद में वे परंपरागत

नाट्य शैली को स्वीकार करने लगे । उनका "आगरा बाज़ार" सभी अर्थों में लोकधर्मी नाट्य परंपरा से जुडा हुआ एक नाटक है ।

जाहिर है कि इप्टा ने अपने ऐतिहासिक धर्म को स्थापित करने के बाद ही पर्दा गिराया है । इप्टा के बिखराव ने वास्तव में कई नूतन नाट्य मण्डलियों की स्थापना के लिए मार्ग खोल दिया है ।

इप्टा की क्रियात्मक शिथिलता

जनवादी साहित्य के उदय के पीछे प्रगतिवादी साहित्य की देन अवश्य है । लेकिन जनवादी साहित्य की ज़रूरत प्रगतिवादी साहित्य की पराजय से ही होती है, ऐसा ही माना जाता है । प्रगतिशील लेखक संघ और प्रगतिवादी साहित्य की पराजय के पीछे जो कारण होते है वे ही इप्टा जैसी एक नाट्य मण्डली की पराजय के पीछे मौजूद है । प्रगतिवादी साहित्य की पराजय के पीछे उसकी क्रियात्मक शिथिलता है । वह क्रियात्मक शिथिलता उसकी राजनीतिक प्रतिबद्धता से संबद्ध रहती है । इसी प्रकार इप्टा की क्रियात्मक शिथिलता के केन्द्र में हम उसकी राजनीतिक प्रतिबद्धता को सबसे प्रमुख कारण के रूप में ढूँढ सकते हैं ।

भारतीय जननाट्य संघ, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा स्थापित किया गया एक नाट्य आन्दोलन है । इसका मकसद था कि जनसाधारण में पार्टी के कार्यक्रमों और मार्क्सवादी विचारों का प्रचार करना । आरंभ में इप्टा ने अनेक बहुमूल्य जननाटकों का प्रदर्शन किया था । जिनमें जनता की भागीदारी अवश्य ही मौजूद थी । अनेक लेखक तथा रंग कर्मी पूर्ण रूप से इस नाट्य आन्दोलन में शामिल थे । देश की पराधीनता, अंग्रेज़ों की दमन नीति के खिलाफ जाग उठी विद्रोही भावना, शोषण तंत्र के खिलाफ

उभर आयी मार्क्सवादी विचारधारा तथा पार्टी के साथ जनसाधारण का आकर्षण नये सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण आदि ने आरंभिक दशा में इप्टा में शामिल रहे कलाकारों को उत्तेजित कर दिया था । इन तत्वों ने इप्टा की क्रियाशीलता में बढ़ावा दी थी । नाटक मात्र मनोरंजन का साधन न रहकर जनजीवन के साथ सच्चे साक्षात्कार का माध्यम बन गया है । संकीर्णता की सभी सीमाओं के बाहर निकलकर नाटक ने शोषित पीडित और सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति व्यक्त की ।

लेकिन आज़ादी के बाद इप्टा की क्रियाशीलता में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा । इस का कारण राजनीतिक सिद्धांतवादिता था । नाटक जनता से असंपृक्त होने लगा । क्योंकि कम्युनिस्ट पार्टी ने भारत के संसदीय शासन तंत्र में अपना स्थान हासिल करने में ध्यान लगाया । तब पार्टी को जन-जागरण की दिशा में नज़र डालने के लिए वक्त नहीं मिला । इप्टा केवल पार्टी की एक जेबी संस्था के रूप में तब्दील हो गया । उधर जनता से जो सरोकार होना था वह खो गया । जनता के सामने इप्टा की अस्मिता में हुई इस तब्दीली, इस की क्रियात्मक शिथिलता का एक प्रमुख कारण है ।

दूसरी तरफ पार्टी के भीतर हुई वैचारिक भिन्नताएँ इस की क्रियाशीलता में शिथिलता लाई । कलाकार की रचनात्मक स्वतंत्रता में पार्टी के हस्तक्षेपों ने प्रतिबन्ध लगा दिया । स्वतंत्रता-कांक्षी अनेक कलाकार इप्टा को छोड कर अपने-अपने क्षेत्रों की खोज में निकले । इस तरह इप्टा के अंदर प्रतिभासंपन्न कलाकारों की कमी होने लगी । हबीब तनवीर, शंभुमित्र, ऋत्विक घटक, बलराज साहनी आदि का प्रस्थान इप्टा के मंच में शून्यता लाया ।

पुन:सक्रियता

इप्टा की क्रियात्मक शिथिलता और उस के सांगठनिक बिखराव से नुक्कड नाटक के जगत में एक बडा सूनापन आ गया । फिर साठोत्तर युग में सफदर हाश्मी के जननाट्य मंच के आविर्भाव से भारतीय नुक्कड फिर से जाग उठे ।

जन नाट्य मंच और सफदर हाश्मी

सफदर हाश्मी के जन नाट्य मंच का आगमन भारतीय जनवादी नाटक के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी । एस. एफ. आई. के सांस्कृतिक संगठन में कार्यरत होते हुए ही हाश्मी सबसे पहले थियटर में आता है । उस समय दिल्ली में इप्टा का केन्द्र जड अवस्था में था । सफदर और अपने साथी उस केन्द्र को अपने नाटकों की प्रस्तुति के लिए उपयोग करने लगे । शुरू-शुरू में वे इप्टा के नाम पर ही नाटक खेलने लगे । लेकिन पार्टी में मतभेद उभरने लगा तो उन्होंने वह छोड दिया । और 1973 में सफदर ने "जननाट्य मंच" की स्थापना की ।

जन नाट्य मंच के आगमन से भारतीय जनवादी रंगमंच में एक नई स्फूर्ति आ गई । भारत के नुक्कड फिर से सक्रिय हो उठे । जन नाट्य मंच ने नुक्कड नाटक को एक सशक्त राजनीतिक हथियार बनाया । जनम के संपूर्ण नाट्य लेखन एवं प्रस्तुति से उस की जनोन्मुखता और प्रतिबद्धता प्रमाणित होती है । सफदर एक जन-चेतन कलाकार, अभिनेता, लेखक और निदेशक थे । जन-जागरण के लिए उन्होंने नुक्कड नाटक की सारी संभावनाओं का इस्तेमाल किया । वे नाट्य कला में निहित विशिष्ट क्षमता से पूरी तरह अवगत थे । समाजवाद लक्षित क्रांतिकारी चेतना जागृत करना सफदर अपना सामाजिक उत्तरदायित्व समझते थे ।

आरंभ में जनम ने "भारत भाग्य विधाता" नामक एक नाटक को पेश किया था जिस का रचनाकार रमेश उपाध्याय था । भारत भाग्य विधाता में सफदर ने ब्रेख्त की नाट्य शैलियों को स्वीकार किया था । फिर जब 1975 जून 12 को इंदिरा सरकार को इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने अवैध घोषित किया था तब इंदिरा सरकार के खिलाफ जनम ने "कुरसी कुरसी कुरसी" नामक एक नाटक का मंचन किया जिस में एक राजा हैं जो जब कभी अपनी कुरसी से उठते हैं तब कुरसी भी उनके साथ उठती है । कई प्रयत्न करने के बावजूद भी राजा को कुरसी से अलग नहीं कर सकता । नुक्कड़ नाटक में जनम की असली शुरूआत इस नाटक के साथ थी ।

इस के बाद जनम ने कई नाटकों का मंचन किया था । इन में "हल्ला बोल," "मशीन", "गाँव से शहर तक", "राजा का बाजा", "अपहरण : भाईचारे का", "औरत" आदि सब से प्रमुख नाटक हैं । जनम ने जन जीवन से संबंधित विषयों को ही चुन लिया था । इस के अतिरिक्त ये विषय बहुत समकालीन भी थे । हल्ला बोल नाटक की प्रस्तुति 1989 में थी । यह मज़दूर आन्दोलनों के ऊपर सरकार द्वारा चलाए गए अमानवीय दमन के विरोध में खेला गया एक नाटक था । उत्तरप्रदेश के साहिदाबाद में जब इस नाटक की प्रस्तुति हो रही थी तो इंदिरा काँग्रेस के हामी कुछ गुंडों ने जनम के कलाकारों पर हमला किया । सफदर हाशमी जख्मी हो गए । और दूसरे दिन वे शहीद हो गए । सफदर के बाद जनम के कार्य क्षेत्र में थोडी सी मंदता अवश्य हो आ गयी, फिर भी अब भारत भर में जनम अपनी क्रांतिकारी आवाज़ पहुँचाने में प्रयत्नरत है ।

इसके अतिरिक्त अनेक छोटी-मोटी नाट्य संस्थायें आजकल इस ओर सक्रिय हैं । इनमें मानुषिक, दिशा, अभियान, निशान्त, युवामंच, एकायन, अंकुर, लहर, अवंतिका, हस्ताक्षर, अनागत, सर्जना, रंग भारती,

प्रयोग, आह्वान, जन-संस्कृति मंच, जागृति, आन्ध्र प्रजा नाट्य मंडली आदि विशेष उल्लेखनीय है ।

रंगशालाओं की चहार दीवारियों से नाटक की मुक्ति

नाटक संबंधी भारतीय अवधारणाओं के अनुसार नाटकों की सृष्टि पंचम वेद के रूप में हुई थी जो चार वर्णों के बाहर के लोगों (निम्न वर्ग) के लिए भी आस्वाद्य होता है । उसका उद्देश्य तो यही था कि वेदों के समान, नाटक के माध्यम से समाज के समस्त वर्गों को ज्ञान और मनोरंजन प्राप्त हो जाएगा । उस समय स्त्रीयों तथा निम्न वर्ग के लोगों के लिए वेदों, पुराणों, उपनिषदों का पढन-पाठन वर्जित था । इस दृष्टि से, नाटक स्त्रियों तथा निम्नवर्ग के लोगों के लिए ज्ञान संपादन एवं मनोरंजन का एकमात्र माध्यम बन गया ।

स्पष्ट है कि नाट्य विधा का प्रयोग जन सामान्य के लिए हुआ । सिद्धांतत: यह एक महान दृष्टिकोण था, लेकिन व्यवहार में यह पूर्णत: सफल नहीं हुआ । क्योंकि पंचम वेद कहलानेवाला यह माध्यम केवल उच्च वर्गों के मनोरंजन के माध्यम के रूप में सीमित हो गया । एक तरफ वह जनता से अलग होकर रंगशालाओं में गिरफ्त हो गया तो दूसरी तरफ उस में पात्रों के चयन, नायकत्व, वेश-भूषा, भाषा, व्यवहार आदि सभी बातों में वर्गगत भिन्नता के नियम सर्वोपरि दृष्टिगत होने लगा । नाट्य-वस्तु संभ्रांत वर्ग की प्रशस्तिगाथा बन कर रह गई । शोषक-शासक वर्ग की तथाकथित महानता की प्रशंसा ही मुख्य रूप से नाटकों की कथा-वस्तु रही है । यह सब हम संस्कृत कालीन नाटकों में देख सकते हैं । सामान्य जनता की समस्याओं की तरफ संस्कृत नाट्यकारों का ध्यान नहीं गया ।

संस्कृत नाटकों के युग के बाद भारत में व्यावसायिक रंगमंच, अर्थात् पारसी थियट्रिकल कंपनियाँ धूम मचाने लगीं । धनोपार्जन लक्षित इन कंपनियों ने दर्शकों की अभिरुचि का परिष्कार करने के बजाय उन्हें सस्ते, अश्लीलता युक्त मनोरंजन का शिकार बनाया । पारसी रंगमंच और अंग्रेज़ी राज के समय आ गए विक्टोरियन थियटर ने भी नाटक को रंगशालाओं के अंदर सीमित रख दिया । लेकिन बीसवीं शती के आरंभिक दशकों में नाटक को रंगशालाओं की गिरफ्त से मुक्त कर जनता के बीच लाने का प्रयास जो हुआ था, वह एक ऐतिहासिक ज़रूरत थी ।

रंगशालाओं से नाटक की मुक्ति से तात्पर्य यह है कि नाटक को जनोन्मुख बनाना । भारतीय रंगमंच संस्कृत नाटकों के समय से एक बड़े अंतराल तक बुर्जुआ रंगमंच था । उधर सर्वहारे की समस्याओं का कोई स्थान नहीं था । लेकिन भारतेन्दु के समय आते-आते उस बुर्जुआ रंगमंच को जनता के बीच लाया गया । फिर स्वतंत्रता संग्राम के अवसर पर, प्रगतिवादी दौर में नाटक और अधिक जनोन्मुख हो आया । आज़ादी के बाद जब नाटक और रंगमंच ज़्यादा जनवादी होने लगा तो वह पूर्ण रूप से रंगशालाओं की चहार दीवारियों से मुक्त हो गया ।

स्पष्ट है कि नाटक की इस मुक्ति के पीछे, "भारतीय जन नाट्य संघ" और "जन नाट्य मंच" का योगदान अवश्य है । उन्होंने भारतीयों के सामने नुक्कड़ नाटकों का परिचय दिया । नुक्कड़ नाटक एक विशेष रंगमंच, पर्दा और रंगसामग्रियों की अपेक्षा नहीं करता है । वह बिना रंगमंच के रंगमंच है । उधर रंगमंच, वेश-भूषा भाषा आदि में किसी भी बुर्जुआ तत्वों का हस्तक्षेप नहीं है । क्योंकि वह नाटक जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए खेला जाता है । सर्वोपरि वह सर्वहारे का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक हथियार है ।

वास्तव में यह रंगशालाओं से नाटक की मुक्ति नहीं थी बल्कि अयथार्थवादी भारतीय रंगमंच का एक पुनर्जागरण था । अयथार्थवादी रंगमंच से तात्पर्य यह है कि बिना किसी वेश-भूषा या रंगसामग्री के साथ अभिनय करना । एक व्यवस्थापित रंगमंच (यथार्थवादी रंगमंच) की माँग करनेवाले संस्कृत, फारसी तथा विक्टोरियन रंगमंचों के बावजूद भी भारत में यह अयथार्थवादी रंगमंच अवश्य ही था, और जो संस्कृत नाटकों के भी पहले से हमारे समाज में मौजूद रहा था । यह रंगमंच लोक नाटक का है । इस लोक नाटक के बीज संस्कृत - फारसी - विक्टोरियन रंगमंचों के वृद्धि-क्षयों के समय भी भारतीय समाज में, जनमानस में अपनी संस्कृति के साथ जैव रूप में रहा था । ये लोक नाट्य परंपरायें युगानुकूल परिवर्तनों को आत्मसात करते हुए आज भी समाज में अपना अस्तित्व दिखाती रहती हैं । आज के नुक्कड नाटकों के मूल में हम उन लोक नाटकों के तत्व देख सकते हैं । अथवा आज का नुक्कड नाटक उन लोक नाटकों की पुनःसृष्टि है ।

दर्शक एवं अभिनेता की दूरी का मिटना

जनवादी नाटकों में, नाटक प्रस्तुत करनेवालों और आस्वादन करनेवालों के बीच की दूरी नहीं के बराबर है । इसके पीछे दो तत्व मौजूद हैं । एक तो अभिनेता दर्शक में अपने को या अपने समाज को देख सकता है और दूसरा यह है कि अभिनेता दर्शकों की ज़िन्दगी को पूरी तरह समझ कर उनकी जबान में, उनकी वेशभूषा में, उनकी ही समस्याओं को प्रस्तुत करता है ।

नुक्कड नाटक एक सशक्त जनवादी कला माध्यम है । उसमें बिना पर्दा के अभिनेता और दर्शक अपनी समस्याओं की चर्चा करते हैं । सफदर हाशमी, चंद्रेश आदि के नाटक इसके लिए उदाहरण हैं । उधर नाटक

एक कला-माध्यम के स्तर से धीरे-धीरे विचलित होकर एक विचार-विनिमय माध्यम में तब्दील हो जाता है । इस तरह दर्शकों तथा अभिनेताओं के साथ की चर्चा के द्वारा नाटक आगे बढ़ता है । उधर नाटक की गति के लिए दोनों की समान भागीदारी अवश्य अपेक्षित है ।

नाटक में अभिनेताओं के समान दर्शकों को भी शामिल करने की यह रीति व्यावहारिक रंगमंच को परिचित नहीं है । दर असल उन्होंने दर्शकों तथा अभिनेताओं के बीच की दरार को मिटाने के बजाय दोनों के बीच एक पर्दा डालकर उन्हें अलग करना चाहा । उधर पर्दा ने नाटक को दो हिस्सों में बाँट दिया - रंगमंच और दर्शक । इसलिए दर्शक रंगमंच से अन्यवत्कृत हो गये, उन्हें रंगमंच में घटित होनेवाली घटनाओं से कोई सरोकार न महसूस हुआ । लेकिन नुक्कड नाटक ने सबसे पहले पर्दा को चीर फाडकर दूर फेंक दिया और जनसामान्य के बीच स्वयं उतर आया । उसने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक विषयों पर चर्चा करते हुए एक जीने योग्य समाज निर्माण में जनता को शामिल कराने का प्रयास किया । उधर कभी-कभी दोनों ने, सामाजिक अन्तर्विरोधों को तबाहने का फैसला लिया और कभी-कभी सत्ता के साथ लडाई करने के लिए निर्णय लिया था ।

इस तरह अभिनेता और दर्शक के बीच की दूरी दूर होने के कारण नाटक का जो मकसद होता है वह पूरी तरह दर्शकों का हो जाता है । इसलिए दर्शक उस मकसद की पूर्ति के लिए उत्तेजित हो उठते हैं । सफदर के नाटकों के समाप्त होते ही दर्शक अभिनेताओं के साथ नारा लगाते थे । जन नाट्य मंच के सभी नाटक इसके लिए गवाही हैं ।

यहाँ नाटक केवल एक कला रूप होने के बजाय जनता में तब्दील हो जाता है । जनता की प्रतिक्रिया नाटकों द्वारा प्रकट होने

लगती है । इसलिए ये जनवादी नाटक सब कहीं जनविरोधी शक्तियों की, विशेष कर सत्ता की, आँखों में दोषी हो गये हैं । जनता और नाटक के इस एकाकार स्वरूप के कारण सत्ता ने इन नाटकों पर सब कहीं हमला किया है । क्योंकि ये नाटक कहीं सत्ता के प्रति जनसामान्य की विरोधी चेतना में तब्दील हुआ या कभी-कभी जन विद्रोह का रूप ले लिया ।

जनता और रंगमंच को आपस में बाँधने का प्रयास पाश्चात्य नाटककार बर्तोल्त ब्रेख्त ने भी किया है । उनके द्वारा एक नयी नाट्य शैली का आगमन हुआ - एपिक रंगमंच । उनके एपिक थियटर में प्रयुक्त होनेवाले, "स्ट्रीट सीन" या "स्ट्रीट कॉर्नर" में सामाजिक सरोकारों से लैस दृश्यों का प्रयोग मिल सकता है । ब्रेख्त के समय रंगमंच पूरी तरह रूपवादी, कलावादी आन्दोलन की गिरफ्त में था । ब्रेख्त ने नाटक और रंगमंच को उस गिरफ्त से मुक्त कर जनसामान्य या दर्शक के साथ सीधा संबंध करवाया । हिन्दी का जनवादी रंगमंच, ब्रेख्त के एपिक रंगमंच से सीधा संबंध तो नहीं रखता है । फिर भी वह कहीं न कहीं किसी न किसी प्रकार एपिक रंगमंच की शैली से प्रभावित है ।

नाट्य रूप और एपिक रूप में अंतर

नाट्य रूप से एपिक रूप कई प्रकार के अंतर प्रकट करता है । नाट्य रूप दर्शकों को भाव-विवश करता है तो एपिक रूप उन्हें निरीक्षक बनाकर उनकी क्षमता को जगाकर उनसे कोई निर्णय माँगता है । नाट्य रूप में दर्शक किसी समस्या का सामना करने का अनुभव करते हुए उस दृश्य के साथ संघर्ष करता है । और एपिक रूप में दर्शक उस दृश्य का विश्लेषण स्वयं करता है । नाट्य रूप में मनुष्य रूपी वस्तु है तो एपिक रूप में मनुष्य रूपी प्रक्रिया है । एपिक रूप दर्शकों के मन में ऐसे प्रश्न छोड देता है जिसके फलस्वरूप

बारे में जनता के मन में जानकारी प्रदान करते हुए जनता की संगठित शक्ति को महत्ता को उभार सके ।

हर जनवादी नाटकों में हम लोक जीवन देख सकते हैं । सर्वेश्वर दयाल सक्सेना , भीष्म साहनी, मणि मधुकर, डा.लक्ष्मी नारायण लाल, सफदर हाश्मी आदि के नाटकों में यह अधिक से अधिक दिखायी देता है । सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के "अब गरीबी हटाओ" और "बकरी" में लोक जीवन का जीवंत एवं यथार्थ दृश्य हम देख सकते हैं । "गरीबी हटाओ" में एक औसत भारतीय गाँव का मैला हुआ दृश्य दिखाया गया है । मध्ययुगीन सामाजिक स्थिति से आधुनिक युग की सामाजिक स्थिति में तनिक भी बदलाव नहीं है । इस नाटक द्वारा दोनों युगों में जनसामान्य को, विशेष कर दलितों तथा नारियों को जो अमानवीय शोषण भोगना पडा उसका चित्रण किया गया है । "बकरी" नाटक में भी सक्सेना ने लोक जीवन के दृश्यों द्वारा शोषण के दुष्परिणामों को चित्रित किया है । भीष्म साहनी कृत "कबिरा खडा बाज़ार में" नाटक भी लोक जीवन के एक विशाल तट से होकर बह रहा है । डा.लक्ष्मीनारायण लाल के "रक्त कमल", "एक सत्य हरिश्चन्द्र" आदि नाटकों का विकास लोक जीवन के साथ है । स्वदेश दीपक के "सबसे उदास कविता" में आरंभ से अंत तक उत्तर भारत के एक ग्रामीण अंचल भर रहा है ।

उपर्युक्त बातों पर नज़र दौडाते वक्त हमें मालूम हो जायेगा कि जनवादी नाटक भावगत एवं रूपगत दोनों दृष्टियों से आम जनता के बीच उतर आया । दरअसल यह लोक नाटकों का एक पुनर्जागरण या परिष्कृत स्वरूप है । भारतीय जननाट्य संघ, जननाट्य मंच जैसे नाट्यान्दोलनों ने नाट्य कला में निहित इस जनवादी स्वरूप को प्रकाश में लाने के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया है । नाटक धीरे-धीरे रंगशालाओं को बहार

दीवारियों को तोड़कर आम जनता के जीवन का साथ देने लगा । मनोरंजन के माध्यम के स्तर से नाटक शोषित-पीड़ित-अभावग्रस्त वर्गों के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक हथियार के स्तर की तरफ बढ़ आया । सर्वोपरि नाटक "जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए" बन गया । यही जनवादी नाटकों का मूल स्वभाव है, मकसद भी ।

उपसंहार

आरंभ में पृथ्वी पर समस्त जीवों का समान अधिकार था । जब मनुष्य सामाजिक जीवन शुरू करने लगा तो निजी संपत्तियों को स्थान प्राप्त होने लगा । तब ताकतवर मनुष्य अपने बाहुबल से ज़मीन तथा अन्य प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा करना शुरू किया और कमज़ोरों को अपनी संपत्ति छोड चलना पडा । इस तरह दुनिया में दो वर्ग पैदा हुए । फिर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक नियम, संविधान, सरकार, पुलिस, अदालत आदि धीरे-धीरे आ गए जिनके द्वारा ताकतवर ज़्यादा ताकतवर बन गए और कमज़ोर वर्ग ज़्यादा दमित हो गये । कमज़ोरों को अपनी आजीविका के लिए ताकतवर वर्ग का गुलाम बनना पडा । वे अक्सर आवाज़शून्य रह गए । जनवादी चेतना इन आवाज़शून्य, हाशिए में पडे लोगों को अपनी दयनीय वर्ग स्थिति से मुक्ति दिलाने का एक सजग प्रयास है । जनवादी साहित्य ने समाज के इन पीडित लोगों की समस्याओं को अपने साहित्य का विषय बनाया । एक सशक्त जनवादी माध्यम के रूप में हिन्दी नाटक ने विभिन्न युगीन परिस्थितियों के अनुसार आम जनता की आवाज़ को बाहर लाने का पर्याप्त प्रयास किया है । भारत के राजनीतिक क्षेत्र में जनवादी विचारधारा का प्रवेश मार्क्सवाद तथा 1917 की रूसी क्रांति के प्रभाव स्वरूप हुआ । औद्योगिकरण के फलस्वरूप देश में जैसे-जैसे आर्थिक विषमता बढ़ी और विदेशी शासन से मुक्ति पाने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलनों की गति तीव्र होने लगी, वैसे ही जनवादी चेतना का प्रसार व्यापक और गंभीर रूप से देश के जीवन पर पडने लगा । स्वतंत्रता संग्राम जनसामान्य की मुक्ति का संघर्ष बन गया । लेकिन स्वतंत्रता के बाद देश भर असंतोष छाने लगा । आम जनता को सरकार, राजनेता, पूँजीपति वर्ग आदि के कुकृत्यों से जूझना पडा । इस वर्ग स्थिति को प्रस्तुत करते हुए हिन्दी साहित्य धीरे-धीरे जनवादी प्रवृत्तियों का वाहक बनने लगा ।

हिन्दी नाटकों में जनवादी चेतना प्रमुख रूप से स्वातंत्र्योत्तर काल में दिखाई देने लगी । लेकिन यह साहित्य या कला के लिए एक नई चीज़ नहीं थी । भारत में लोकनाट्य परंपराओं में रूपगत एवं शैली की दृष्टि से हम ये जनवादी तत्व देख सकते हैं । लोकनाट्य परंपरा में पाई जानेवाली सरल रूप सज्जा, प्रस्तुतीकरण की स्वाभाविकता, जन-भाषा का प्रयोग, मुक्ताकाशी रंग पद्धति आदि विशेषताएँ बाद में भारतीय नुक्कड नाटकों में आकर पुनःसक्रिय हो उठी । संस्कृत की नाट्यधर्मी परंपरा के समय में भी आम लोगों के बीच यह लोकधर्मी नाटक भारत के विभिन्न प्रान्तों में मौजूद था और विभिन्न भाषायुगों को पार करते हुए आज भी भारत की लोक संस्कृति के साथ जैव रूप में जीवित रहा है ।

हिन्दी नाटकों का आरंभ भारतेन्दु युग से माना जाता है । भारतेन्दु के नाटकों में जनवादी चेतना की झलक विद्यमान है । जब उन्होंने अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के खिलाफ अपने नाटकों द्वारा जनचेतना को जागृत करने की कोशिश की तो उन के नाटकों में जनवादी स्वर मुखरित होने लगा । लेकिन भारतेन्दु के बाद प्रसाद युग में आते आते जनवादी चेतना की तीव्रता बहुत नाममात्र हो गयी । फिर भी अतीत के गौरव को जगाकर जनता को साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ खडा करने के लिए प्रसाद और उनके समकालीनों ने जो प्रयास किया था उस में भी जनचेतना की झलक मिलती है ।

प्रसादोत्तर काल में, मार्क्सवादी विचारधारा से युक्त प्रगतिशील आन्दोलनों का उदय हुआ । सन् 1935 में पेरिस में प्रमुख उपन्यासकार ई.एम.फ़ोर्स्टर के नेतृत्व में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई थी और उस से प्रेरणा पाकर मुल्क राज आनन्द, सज्जाद सहीर जैसे

भारतीय साहित्यकारों के नेतृत्व में सन् 1936 में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई । यह भारत के पूरे साहित्यिक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया । राजनीति के क्षेत्र में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, और साहित्य के क्षेत्र में मार्क्सवादी विचारधारा का स्थान बढ़ने लगा । और कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने प्रवर्तनों तथा आदर्शों को आम लोगों के बीच पहुँचाने के उद्देश्य से सन् 1940 में भारतीय जन नाट्य संघ की स्थापना की । यह जन-चेतना से ओत-प्रोत नाटकों के इतिहास में एक अविस्मरणीय घटना थी । भारतीय जननाट्य संघ ने नुक्कड नाटकों के माध्यम से भारत के गाँवों-नगरों में अंग्रेज़ी सरकार एवं सामन्ती सभ्यता के विरोध में जन-मन को एकत्रित कराने का कार्य किया था । भारत की इस नुक्कड नाट्यमंडली के प्रवर्तन को दुनिया भर में उभर आए एक आन्दोलन के भाग के रूप में देखना चाहिए । विश्व भर नुक्कड नाटक का विकास एक सामाजिक विद्रोह के रूप में हुआ था । बीसवीं शती के आरंभ में ब्रिटेन, आस्ट्रिया, जर्मनी, रूस आदि देशों में जो राजनीतिक रंगमंच मौजूद थे, वे नुक्कड रंगमंच थे । फिर इस नुक्कड रंगमंच ने अन्य कई देशों में पदार्पण किया । स्पेन, वियतनाम, क्यूबा, फ्रांस, इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों की जनता में इस नाट्यान्दोलन ने अपना असर डाला । अफ्रीका, लैटिन अमेरिका और एशियाई देशों में यह स्वतंत्रता संग्राम का भाग बन गया ।

आज़ादी के बाद प्रगतिवादी साहित्यिक आन्दोलनों के प्रवर्तन में मंदता आने लगी और प्रगतिवादी साहित्य आम जनता के जीवन से असंपृक्त होकर कोरी राजनीतिक सिद्धांतवादिता की ओर मुडने लगा । इस ने स्वातंत्र्योत्तर काल में जनवादी साहित्य के लिए मार्ग खोल दिया ।

आज़ादी के पूर्व जनता के मन में आज़ादी के प्रति जो सपना था, वह आज़ादी के बाद पूरी तरह टूट गया । विदेशी शासन के

स्थान पर देशी शासन के आने पर भी स्वतंत्रता पूर्व की शोषण प्रक्रिया समाज और राजनीति के समस्त कोनों में अपरिवर्तित रह गई । भ्रष्ट राजनीति ने जनतंत्र के आदर्शों को भाप बनाकर, शोषक ताकतों को पूर्वाधिक रूप से जनता का शोषण करने के लिए माहौल बनाया । सब कहीं भ्रष्टाचार तथा जनाधिकारों के हनन का बोलबाला था । इस माहौल में, कतिपय साहित्यकारों तथा नेताओं ने आम जनता के जागरण को ही इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए एकमात्र उपाय माना । इस चिंतन ने जनवादी साहित्य को ज़्यादा विकसित होने दिया । इस लिए उस समय के हिन्दी नाटकों में जनचेतना को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ । जगदीशचन्द्र माथुर के "कोणार्क" से लेकर कई महान नाट्यकारों की रचनाओं में जनवादी चेतना हम देख सकते हैं । लक्ष्मी नारायण लाल, गिरिराज किशोर, मणि मधुकर, शंकर शेष, भीष्म-साहनी, ज्ञानदेव अग्निहोत्री आदि की रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं ।

साठोत्तरी युग के हिन्दी नाटकों में जनवादी चेतना का असर और तीव्र होने लगा । 1975 में भारत के प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने जब देश में आपातकाल घोषित किया, तब जनतंत्र एकदम तानाशाही में तब्दील हो गया । आपातकालीन परिदृश्य में रचित हिन्दी नाटकों में बर्बर और अमानवीय शासन नीतियों का पर्दाफाश, अवसरवादी राजनीति, स्वार्थी एवं सत्तामोही राजनीतिज्ञों के छल कपट, प्रजातंत्र का खोखलापन, कलाकार और साहित्यकार पर व्यवस्था का दमन, राजनीति और धर्म का गलबाही संबंध आदि कई मुद्दे उभारे गए हैं । साठोत्तर युग में शरद जोशी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, लक्ष्मीनारायण लाल, भीष्म साहनी, शंकर शेष, बृजमोहन शाह, सुशील कुमार सिंह, गिरिराज किशोर, मणि मधुकर, मुद्राराक्षस, सुरेन्द्र वर्मा जैसे कई प्रतिभासंपन्न कलाकारों ने अपनी नाट्य रचनाओं के द्वारा शोषण के विरुद्ध आम जनता को एकत्रित करने का आह्वान किया ।

भारतीय जननाट्य संघ की क्रियात्मक शिथिलता के बाद सुप्त हो गए भारतीय नुक्कडों को पुनः जगाने का कार्य, सफदर हाश्मी के जननाट्य मंच ने किया । जननाट्य मंच ने नाटक को एक राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया । "हल्ला बोल", "औरत", "अपहरण भाईचारे का", "गाँव से शहर तक", "राजा का बाजा" आदि इस नाट्यमंडली के सबसे प्रमुख नाटक हैं ।

दरअसल नुक्कड नाटकों को जनवादी नाटक कहते हैं । ऐसे नाटकों को हमेशा एक आन्दोलन का स्वभाव है । जनवादी नाटकों का शिल्प इतना जटिल हो गया है कि कभी-कभी अपना साहित्यिक महत्व हो नहीं के बराबर हो रहा है । अधिकांश जनवादी नाटक महज राजनीतिक नारेबाजी के समान हैं । अक्सर जनवादी नाटकों का मंचन सत्ता एवं कानून के विरुद्ध होता है । इसलिए भली-भांति इन के मंचन के लिए आनेवाले कलाकारों की संख्या बहुत कम है । कभी कभी सरकार एवं जनविरोधी ताकतों की तरफ से कलाकारों को दण्ड भोगना पडता है । इतिहास इस के लिए गवाह है कि जनवादी नाटकों की प्रस्तुति अन्य नाटकों की अपेक्षा बहुत मुश्किल की बात है । वास्तव में जनवादी नाटक का कलाकार, नाटक करना अपना सामाजिक उत्तरदायित्व समझता है, न कि धन कमाना । श्री सुभाष शर्मा के साथ एक साक्षात्कार में श्री सफदर हाश्मी ने अपने सह-रंगकर्मियों के बारे में कहा, "नाटक करना अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाने का माध्यम है, उन के लिए जिसके ज़रिए वे जनता में सामाजिक चेतना फैलाने का काम करते हैं ।"[1]

---

1. सफदर - जननाट्य मंच द्वारा संपादित - पृ. 47

जनता में प्रगतिशील चेतना पैदा करने एवं जनवादी आन्दोलनों को ऊर्जा प्रदान करने में जनवादी चेतना से युक्त नाटकों की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण है । पिछले दो दशकों से देश के पूरे माहौल में जो उग्र और आक्रामक राष्ट्रवाद फैल रहा है, जाति, धर्म, साम्प्रदायिकता आदि के नाम पर आदमी और आदमी के बीच दीवारें खडा कर देने की जो साजिशें चल रही हैं, मनुष्य होने के बावजूद भी मनुष्य के रूप में जीने का अधिकार छीन लिए जाने के बाद देश के दलितों के प्रति अमानवीय सत्ता, शोषक वर्ग और रूढिवादी धर्म द्वारा जो षड्यंत्र रचा जा रहा है, इन सब विसंगतियों से लडने की ज़रूरी दृष्टि जनवादी चेतना से युक्त साहित्य, विशेष कर नाट्य साहित्य प्रदान करेगा और एक क्रियाशील समाज के निर्माण के लिए अपनी भूमिका अदा करेगा ।

सहायक ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

1. अन्धेर नगरी : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
साहित्यगार
एस. एम. एस. हाईवे
जयपुर - 302003
प्र. सं. 1989.

2. अन्धों का हाथी : शरद जोशी
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग
दरियागंज
नई दिल्ली - 110002
प्र. सं. 1993.

3. अब गरीबी हटाओ : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
लिपि प्रकाशन
1, अनसारी रोड
दरियागंज
नई दिल्ली - 2
प्र. सं. 1981.

4. अब्दुल्ला दीवाना : लक्ष्मी नारायण लाल
राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली
प्र. सं. 1973.

5. एक था गधा उर्फ अलादाद खाँ : शरद जोशी
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली

6. एक सत्य हरिश्चन्द्र : लक्ष्मी नारायण लाल
राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली
प्र. सं. 1976.

7. कबिरा खड़ा बाज़ार में : भीष्म साहनी
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
8, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली - 110002
प्र.सं. 1993.

8. करफ्यू : डा. लक्ष्मी नारायण लाल
राजपाल एण्ड सन्स
काश्मीरी रोड
दिल्ली
प्र.सं. 1972.

9. कलंकी : लक्ष्मी नारायण लाल
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस
दरियागंज
दिल्ली - 6
प्र.सं. 1969.

10. कामना : जयशंकर प्रसाद
भारती भंडार
इलाहाबाद
प्र.सं. 2025.

11. कालजयी : शंकर शेष
संभार्ग प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 1987.

12. कोणार्क : जगदीश चन्द्रमाथुर
राधाकृष्ण प्रकाशन
दरियागंज
नई दिल्ली
प्र.सं. 1951.

13. कोर्टमार्शल : स्वदेश दीपक
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 1993.

14. त्रिशंकु : ब्रजमोहन शाह
शब्दकार प्रकाशन
दिल्ली
प्र.सं. 1973.

15. नरसिंह कथा : लक्ष्मी नारायण लाल
लोकभारती प्रकाशन
15-ए, महात्मागांधी मार्ग
इलाहाबाद - 1
प्र.सं. 1987.

16. नागपाश : सुशील कुमार सिंह
साहित्य सहकार
सी-38, ईस्ट कृष्ण नगर
दिल्ली - 110051
प्र.सं. 1977.

17. नुक्कड नाटक : चन्द्रेश
राधाकृष्ण प्रकाशन
2/38 अंसारी रोड
दरियागंज
नई दिल्ली - 110002
प्र.सं. 1983.

18. प्रजा ही रहने दो : गिरिराज किशोर
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस
नई दिल्ली - प्र.सं.

19. बकरी : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
लिपि प्रकाशन
1, अनसारी रोड
नई दिल्ली-2, प्र.सं. 1974.

20. बोलो बोधिवृक्ष : मणिमधुकर
लिपि प्रकाशन
नई दिल्ली - 2
प्र.सं. 1984.

21. यौअर्स फेथफुली : मुद्राराक्षस
राजेश प्रकाशन
दिल्ली, प्र.सं. 1975.

22. रक्त कमल : लक्ष्मी नारायण लाल
राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.
7, फौज बाज़ार, दिल्ली-6
द्वि.सं. 1969.

23. राजाबली की नयी कथा : रेवति सरन
विद्याप्रकाशन मंदिर
दिल्ली, प्र.सं. 1976.

24. लडाई : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
लिपि प्रकाशन
नई दिल्ली - 2
प्र.सं. 1984.

25. शुतुरमुर्ग : ज्ञानदेव अग्निहोत्री
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
कलकत्ता - 27
प्र.सं. 1963.

26. सफदर : जननाट्य मंच
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1989.

27. सबसे उदास कविता : स्वदेश दीपक
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 1998.

28. हानूश : भीष्म साहनी
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
तीसरा संस्करण - 1989.

आलोचनात्मक ग्रन्थ

1. आज का हिन्दी नाटक: प्रगति और प्रभाव : दशरथ ओझा
राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली
प्र.सं. 1984.

2. आधुनिक हिन्दी नाटक एक यात्रा दशक : नरनारायण राय
भारती भाषी प्रकाशन
518/613 विश्वासनगर
दिल्ली - 110032
प्र.सं. 1979.

3. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच : लक्ष्मी नारायण लाल
साहित्य भवन प्रा. लि.
इलाहाबाद
द्वि.सं. 1989.

4. आधुनिक हिन्दी नाटक संवेदना और शिल्प के नये आयाम : डा. सुन्दरलाल कथूरिया
भावना प्रकाशन
दिल्ली - 110001
प्र.सं. 1998.

5. आधुनिक हिन्दी नाटकों में मध्यवर्गीय चेतना : वाणी नेनम
संजय प्रकाशन
दिल्ली
प्र.सं. 1984.

6. इनसानियत की नसीहत : डा. पी. ए. शमीम अलियार
सूर्यभारती प्रकाशन
दिल्ली - 110006
प्र. सं. 1998.

7. कोणार्क : रंग और संवेदना : डा. नरनारायण राय
कादम्बरी प्रकाशन
नई दिल्ली - 110015
प्र. सं. 1987.

8. दो रंगधर्मी हस्ताक्षर : चन्द्रशेखर
आत्माराम एण्ड सन्स
दिल्ली
प्र. सं. 1987.

9. नये साहित्य का सौंदर्य शास्त्र : गजानन माधव मुक्तिबोध
राधाकृष्ण प्रकाशन
अनसारी रोड
दिल्ली - 6
प्र. सं. 1971.

10. नाटक और रंगमंच : राजकुमार, ओमप्रकाश
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पिशाचमोचन
वाराणसी - 1
प्र. सं. 1961.

11. नाटक और रंगमंच : संपादक - कुमार शर्मा
डा. भानु शंकर मेहता
प्रभा प्रकाशन
इलाहाबाद - 211003
प्र. सं. 1985.

12. प्रगतिवादी समीक्षा : श्री राम प्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थम प्रकाशन
रामबाग, कानपुर
प्र.सं. 1964.

13. प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य : विजय बवट
अकादमी
भोपाल, प्र.सं. 1971.

14. प्रसादोत्तर युगीन परिप्रेक्ष्य और नुक्कड नाटक एक मूल्यांकन : डा.मदन मोहन शर्मा
पार्श्व प्रकाशन
अहमदाबाद

15. प्रसादोत्तर हिन्दी नाटकों में जनवादी चेतना : डा.सिम्मी गुप्ता
हिन्दी साहित्य संसार विभाग,
गाँधीनगर
दिल्ली - 110031
प्र.सं. 1995.

16. बीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों का समाज शास्त्रीय अध्ययन : डा.लजपतराय गुप्त
कल्पना प्रकाशन
मेरठ कैण्ड - 250000
प्र.सं. 1974.

17. भारत के लोक नाट्य : शिवकुमार माथुर
वाणी प्रकाशन
दिल्ली - 110007
प्र.सं. 1980.

18. भारतीय नाट्य शास्त्र और रंगमंच : डा.राम सागर त्रिपाठी
अशोक प्रकाशन
दिल्ली
प्र.सं. 1971.

19. रंगकर्म : वीरेन्द्र नारायण
प्रधान संपादक डा. नगेन्द्र
आलेख प्रकाशन
दिल्ली - 110032
प्र. सं. 1979.

20. रंगधर्मी नाटककार शंकर शेष : डा. प्रकाश जाधव
विकास प्रकाशन
कानपुर - 1990.

21. रंगमंच : बलवंत गार्गी
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
दिल्ली - 6
प्र. सं. 1968.

22. रंगमंच कला और दृष्टि : गोविन्द चातक
तक्षशिला प्रकाशन
नई दिल्ली

23. रंगमंच देखना और पहचाना : लक्ष्मीनारायण लाल
सातवाहन पब्लिकेशन
नई दिल्ली - 110065
प्र. सं. 1983.

24. रंगमंच नया परिदृश्य : डा. रोतारानी पालीवाल
लिपि प्रकाशन
दिल्ली - 110002
द्वि. सं. 1992.

25. रंगमंच लोकधर्मी - नाट्य धर्मी : लक्ष्मी नारायण भरद्वाज
के. एल पचौटी प्रकाशन
गाजियाबाद - 201102

26. लक्ष्मीनारायण लाल का रंगदर्शन	: सुभाष भाटिया हिन्दी साहित्य परिषद अहमदाबाद प्र.सं. 1990.
27. लोकधर्मी नाट्य परंपरा	: डा.श्याम परमार हिन्दी प्रचार पुस्तकालय वाराणसी - 1 प्र.सं. 1959.
28. समकालीन हिन्दी कथा साहित्य में जनवादी चेतना	: डा.अरुणा लोखण्डे विकास प्रकाशन कानपुर - 208027 प्र.सं. 1996.
29. समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच	: जयदेव तनेजा तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 1978.
30. समकालीन हिन्दी नाटक बहुआयामी व्यक्तित्व और पहचान	: सुरेन्द्रलाल कथुरिया साहित्यकार प्रकाशन दिल्ली प्र.सं. 1979.
31. समसामयिक नाटकों में वर्ग चेतना	: डा.देवकिशन चौहान स्वराज प्रकाशन दिल्ली - 110085 प्र.सं. 1997.
32. साठोत्तरी हिन्दी कविता में जनवादी चेतना	: नरेन्द्र सिंह वाणी प्रकाशन 2/38, अनसारी मार्ग नई दिल्ली - 110002 प्र.सं. 1990.

33. साहित्य और समाज परिवर्तन : सच्चिदानन्द वात्स्यायन
की प्रक्रिया नेशनल पब्लिकेशन
नई दिल्ली

34. स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष्य : डा. मदन मोहन शर्मा
और नुक्कड नाटक एक मूल्यांकन पार्श्व प्रकाशन
अहमदाबाद - 380001
प्र. सं. 1992.

35. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों : डा. गजानन सुर्वे
का सांस्कृतिक अध्ययन साहित्य रत्नालय
कानपुर - 208001
प्र. सं. 1987.

36. हिन्दी उपन्यास साहित्य पर : डा. पी. के. पद्मजा
वैचारिक आन्दोलनों का प्रभाव

37. हिन्दी के प्रतीकात्मक नाटक : डा. केदारनाथ सिंह
और रंगमंच विद्याविहार
कानपुर - 208012
प्र. सं. 1984.

38. हिन्दी नाटक और रंगमंच : डा. इन्द्रनाथ मदान (संपादक)
लिपि प्रकाशन
दिल्ली - 110051
प्र. सं. 1975.

39. हिन्दी नाटक और रंगमंच : राजमल बोरा
नारायण शर्मा (संपादक)
पंचशील प्रकाशन
जयपुर - 302003.
प्र. सं. 1988.

40. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास : दशरथ ओझा
राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली
प्र.सं. 2018.

41. हिन्दी नाटक का विकास : सुरेन्द्रलाल शर्मा
अजय प्रकाशन
दिल्ली - 52
वि.सं. 1977.

42. हिन्दी नाटक के सौ वर्ष : डा.बालेन्दु शेखर तिवारी
गिरनार प्रकाशन
गुजरात
सं. 1990.

43. हिन्दी नाटक : पुनर्मूल्यांकन : सत्येन्द्र तनेजा
ग्रन्थम प्रकाशन
कानपुर
प्र.सं. 1991.

44. हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन : डा.शांति गोपाल पुरोहित
साहित्य सदन
देहरादून
प्र.सं. 1964.

45. हिन्दी नाटकों की शिल्प-विधि : गिरिजा सिंह
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद -1
प्र.सं. 1970.

46. हिन्दी नाट्य समालोचना : डा.मान्धता ओझा
राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली
प्र.सं. 1976.

47. हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा : कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह
गौरीशंकर शर्मा
भारती ग्रन्थ भण्डार
प्र.सं. 1964.

48. हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास : सोमनाथ गुप्ता
हिन्दी भवन
इलाहाबाद
प्र.सं. 1962.

49. हिन्दी रंगमंच का इतिहास : डा. चंदुलाल दुबे
कुंज बिहारी पचौरी ,एम कॉम
जवाहर पुस्तकालय
मथुरा
प्र.सं.

मलयालम

1. इंडिया : अर्धरात्रिमुतल अरनूटटाण्डु : शशी तरुर
डी.सी. बुक्स
कोट्टयम
प्र.सं. 1998.

2. तेरुवुयुद्धन्तिन्टे नाटकवेदी : गोपन चिदंबरम
सो.आई.सो.सो. बुक हाउस
एरणाकुलम
प्र.सं. 1998.

3. नाड गदिदका : के.जे. बेबो.

G8558